- नाम—धर्ममय समाजरचना का प्रयोग
- प्रेरक—गणिवर मुनि श्रीजनकविजयजी
- लेखक—मुनि नेमिचन्द्र
- प्रस्तावना—काका साहब कालेलकर
- दो शब्द—श्रीमन्नारायण अग्रवाल
- प्रयोगकार का पुरोवचन—मुनि श्रीसंतबालजी

- प्रकाशक—श्री आत्मानन्द जैन कालेज, अम्बालाशहर
- मुद्रक—जैन प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्मपुरी, मेरठ (उ० प्र०)
- आवृत्ति—प्रथम
- समय—भाईदूज वि० सं० २०२४
  नवम्बर—१६६७ ई०
- मूल्य—दो रुपये पचास नये पैसे

हिंमतभरी अभिनंदनीय प्रवृत्ति

काका साहेब कालेलकर

'धर्ममय समाजरचना का प्रयोग' एक वक्तृत्वपूर्ण किताब है। इस में समाज का चित्रण है, परिस्थिति का चिंतन है और भविष्य के लिये दिशा-दर्शन भी है। लेकिन इसका महत्त्व तो इस ग्रन्थ के पीछे जो प्रयोग-परायणता है और समाजहितकाम्या है, उसीके कारण है।

आजकल का जमाना समाजक्रांति का होने से समाजपरिवर्तन के प्रयोग दुनिया में अनेक जगह हो रहे हैं। हमारे देश में भी कहीं-कहीं प्रारंभ दीख पड़ता है; किंतु संन्यासी-साधु और मुनि या भिक्षुओं की ओर से शायद ही कोई प्रयोग होते हैं। मुनियों का काम मनन करना और हो सके तो मौन धारण करना, यही माना जाता है। बहुत हुआ तो वे व्याख्यान देंगे, प्रवचन करेंगे, रहा न गया तो शास्त्रार्थ भी करेंगे। किंतु सामाजिक प्रयोग के जैसी प्रवृत्ति में अपने को लगा देना, उनकी निवृत्ति-परायण-प्रवृत्ति में बैठ नहीं सकता।

स्वामी विवेकानन्द जैसे 'राष्ट्राभिमानी संत' ने ही सर्वप्रथम कुछ प्रयोग करने की हिंमत की और रामकृष्णमिशन के द्वारा अनेक सेवाश्रम की स्थापना की। साधुओं के अखाड़े अलग होते हैं और रामकृष्ण-मिशन की प्रवृत्तियां अलग हैं। हमारे लिए इस युग की वह नयी ही प्रवृत्ति थी। आज वह अच्छी तरह पनपी है। उसकी सेवा की सुगंधि देश-देशान्तर में फैली हुई है। उसे हम संस्थागत प्रवृत्ति कह सकते हैं। समाज पर ऐसी संस्था का प्रभाव अवश्य होता है, लेकिन प्रवृत्ति तो संस्था के कार्य तक ही सीमित रहती है।

पुराने साधु भी संस्थागत प्रवृत्तियाँ नहीं करते थे सो नहीं, लेकिन

हिंमतभरी अभिनंदनीय प्रवृत्ति

काका साहेब कालेलकर

'धर्ममय समाजरचना का प्रयोग' एक वक्तृत्वपूर्ण किताब है। इस में समाज का चित्रण है, परिस्थिति का चिंतन है और भविष्य के लिये दिशा-दर्शन भी है। लेकिन इसका महत्त्व तो इस ग्रन्थ के पीछे जो प्रयोग-परायणता है और समाजहितकाम्या है, उसीके कारण है।

आजकल का जमाना समाजक्रांति का होने से समाजपरिवर्तन के प्रयोग दुनिया में अनेक जगह हो रहे हैं। हमारे देश में भी कहीं-कहीं प्रारंभ दीख पड़ता है; किंतु संन्यासी-साधु और मुनि या भिक्षुओं की ओर से शायद ही कोई प्रयोग होते हैं। मुनियों का काम मनन करना और हो सके तो मौन धारण करना, यही माना जाता है। बहुत हुआ तो वे व्याख्यान देंगे, प्रवचन करेंगे, रहा न गया तो शास्त्रार्थ भी करेंगे। किंतु सामाजिक प्रयोग के जैसी प्रवृत्ति में अपने को लगा देना, उनकी निवृत्ति-परायण-प्रवृत्ति में बैठ नहीं सकता।

स्वामी विवेकानन्द जैसे 'राष्ट्राभिमानी संत' ने ही सर्वप्रथम कुछ प्रयोग करने की हिंमत की और रामकृष्णमिशन के द्वारा अनेक सेवाश्रम की स्थापना की। साधुओं के अखाड़े अलग होते हैं और रामकृष्ण-मिशन की प्रवृत्तियां अलग हैं। हमारे लिए इस युग की वह नयी ही प्रवृत्ति थी। आज वह अच्छी तरह पनपी है। उसकी सेवा की सुगंधि देश-देशान्तर में फैली हुई है। उसे हम संस्थागत प्रवृत्ति कह सकते हैं। समाज पर ऐसी संस्था का प्रभाव अवश्य होता है, लेकिन प्रवृत्ति तो संस्था के कार्य तक ही सीमित रहती है।

पुराने साधु भी संस्थागत प्रवृत्तियाँ नहीं करते थे सो नहीं, लेकिन

वह होती थी उनके आश्रम और मठों तक ही सीमित। व्यक्तिगत-साधना में मददगार हो, और केवल चिंतन नहीं, लेकिन जीवन-साधना द्वारा साधुत्व का साक्षात्कार हो, इसी उद्देश्य से निवृत्ति-परायणों की वह सामुदायिक प्रवृत्ति होती थी।

हमारे देश में प्राचीनकाल से तरह-तरह के आश्रम चलते आये हैं। इन आश्रमों के भिन्न-भिन्न प्रकार देख कर उनके अन्दर समानता कौनसी है, उसे ढूंढना होगा। जो हो, हरएक युग के इन अलग-अलग आश्रमों के द्वारा समाज की उत्तम सेवा हुई है और आज भी हो रही है।

लेकिन किसी गांव में, कस्बे में या शहरों में रह कर केवल उपदेश के द्वारा नहीं, किंतु दिशा-दर्शन की प्रेरणा द्वारा समस्त समाज के जीवनक्रम में परिवर्तन या क्रांति लाने के प्रयत्न बहुत ही कम हुए हैं। इसीलिये मुनि संतबालजी की वात्सल्यपूर्ण प्रवृत्ति की ओर एकदम ध्यान आकर्षित होता है। उनके इस तरह के सामाजिक प्रयोगों में शरीक होकर काफी अनुभव लेने के बाद मुनि नेमिचंद्रजी ने [illegible] की ओर भी वैसे ही प्रयोग शुरू किये हैं। इन प्रयोगों का निरीक्षण, परीक्षण और तोलन करने का मौका अभी तक मुझे नहीं मिला है। लेकिन मुनि नेमिचंद्रजी के इस ग्रन्थ पर से उसका काफी ख्याल आ सकता है।

इन प्रयोगों की ओर, और इस ग्रन्थ की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ इसका [illegible] एक कारण है।

[illegible] के संपर्क में हम आये, और उनका [illegible] हम [illegible] हम लोग—हमारा सारा [illegible] और [illegible] [illegible] उनके [illegible] [illegible] पा[illegible] की जीवन-मीमांसा और उनके [illegible] की [illegible] हम उनके ही [illegible] में [illegible]

करते आये हैं। विचार-सृष्टि में सर्वत्र सोचें पश्चिम के लोग, उनका अनुवाद-प्रचार करें हम; मौलिक प्रयोग-परायणता बतावें वे, हम उनके चारण बनें अथवा प्रशंसक या समर्थक। अगर हम अपने यहाँ कोई प्रयोग करें तो तरीका उन्हीं का। केवल प्रेरणा ही नहीं, परिभाषा भी उन्हीं की। ऐसी स्याहीचूस प्रवृत्ति हमारे यहाँ चलती आई है।

यह सारा प्रकार देख कर जो मायूसी होती है। उसको दूर करने का काम तभी हो सकता है, जब कोई या तो स्वदेशी ढंग का प्रयोग करे या बिलकुल अपना मौलिक प्रयोग चलाने की हिंमत करें।

मुनि संतबालजी और उनके साथी मुनि नेमचन्द्रजी हैं तो रूढ़ि-निष्ठ जैन-साधु। शास्त्र-निष्ठा, परंपरा-निष्ठा और रूढ़िनिष्ठा में पले हुए होने के कारण उनके प्रयोगों में परंपरित-मानस काम करता दीख पड़ता ही है। तो भी इनमें अपने स्वदेशी और स्वतंत्र-प्रयोग करने की हिंमत है और मौलिक क्रांति करने का सदाशय भी है।

जो लोग रूढ़ तत्त्वज्ञान के अन्दर फंसे हुए रहते हैं, वे अपने अनुभवों का वैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यमापन नहीं कर सकते। वैज्ञानिक प्रयोगों में तटस्थभाव से निरीक्षण-परीक्षण करने की शक्ति होनी चाहिये। लेकिन अगर कोई पुरानी त्रिगुण-व्यवस्था में पूरी-पूरी निष्ठा रखता है तो वह अपने प्रयोगों का अपेक्षित फल श्रद्धा की दृष्टि से देखने का ही कायल बनता है। जैसे खतरे मोल लेकर भी इन मुनियों ने सामाजिक संगठन द्वारा और नये-नये प्रयोगों के द्वारा सामाजिक क्रांति करने का प्रारंभ किया है। इसकी भूमिका समझाते हुए उन्होंने उत्तरोत्तर बढ़ते महत्त्व के चार सामाजिक-तत्त्व हमारे सामने रखे हैं।

(१) न्याय-निष्ठ नीतिलक्षी राज्यसंगठन (२) नीतिनिष्ठ धर्मलक्षी जनसंगठन (३) धर्मनिष्ठ अध्यात्मलक्षी जनसेवक-संगठन और

अदम्य प्रमाद के प्रतिनिधि हैं। श्रीकृष्ण का निजधाम-गमन और उसके बाद यादवों के कुटुम्ब-कबीलों को दिल्ली ले जाते (हुए) बुड्ढे अर्जुन की हुई दुर्दशा यह बताती है कि हमारे आदिवासियों के साथ हम एक-जीव, एक-प्राण नहीं हुए थे।

आज भी अगर हम चातुर्वर्ण्य के आदर्श की रट लगायेंगे और प्राचीन समाज-व्यवस्था को सर्टिफिकेट देंगे, कि 'उन दिनों न कोई बड़ा था न कोई छोटा' तो हम शुद्ध सामाजिक क्रांति नहीं कर सकेंगे। अपनी गलतियाँ पहचानना और उनका स्वीकार करना ही क्रांति की ठोस बुनियाद है। अगर हम पुरानी सदोष बुनियाद को भक्तिभाव से कायम रखेंगे तो हमारी क्रांति सफल नहीं होगी।

मुनि नेमिचन्द्रजी ने संगठन का महत्त्व प्रभावशाली शब्दों में सिद्ध किया है। इसीलिये कहना पड़ता है कि संगठन की बुनियाद ठोस होनी ही चाहिये। पुरानी, जर्जर और नाकामयाब बुनियाद क्रांति को खड़ी ही होने न देगी।

अब दूसरी एक बात।

इस युग की भारत की समाजरचना धर्मबहुल है। न इसकी शिकायत हो सकती है, न इसका कोई इलाज है। सब धर्मों को खत्म करना और केवल संघर्ष को ही सामाजिक जीवन की बुनियाद बना देना, अन्याय-निर्मूलन के लिये शायद काफी होगा; लेकिन मानव-संस्कृति का विकास उस रास्ते हो नहीं सकता।

क्षणभर के लिये मान लीजिये बहुधर्मी भारत को हम एकधर्मी बना सके तो भी दुनिया तो बहुधर्मी रहेगी ही। बहुधर्मी भारत में अगर हम एक विशाल, विराट् धर्मकुटुम्ब तैयार कर सके तो समस्त विश्व के एक जटिल सवाल का हल हमारे हाथ में आयेगा। सब धर्मों का नाश करना और सर्वत्र सांस्कृतिक स्मशान-शांति स्थापित करना न इष्ट है; न शक्य।

हर एक धर्म के उसका अपना प्राण होता है, और उसका कलेवर भी। प्राण के द्वारा विश्व की सेवा होती है, कलेवर के द्वारा धर्म संगठित और मजबूत होकर समाज के निचले स्तर तक पहुँचता है।

जो लोग धर्म के जैसी तेज वस्तु हजम नहीं कर सकते, वे प्राण की उपेक्षा करके कलेवर की ही अभिमानपूर्वक उपासना करते हैं। जब तक यह स्थिति रहेगी, सर्वसामान्य प्राण की उपेक्षा करके मनुष्य कलेवर को ही धर्म-सर्वस्व मानेगा तब तक सर्वधर्म-समभाव (और मम-भाव भी) कारगर नहीं होगा। जो लोग मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं और पत्थर की मूर्तियों को और उनके मंदिरों को तोड़ते हैं, वे ही सच्चे मूर्तिपूजक हैं। क्योंकि वे कलेवर को ही धर्मसर्वस्व मानते हैं। धर्म-विकृति का परिणाम अगर देखना है तो इस्लाम और ईसाईधर्म के प्रचार का इतिहास देख लेना बस होगा। अभिमान, असहिष्णुता तिरस्कार, द्वेष और संख्या की उपासना यही तत्त्व उसमें जोर करते दीख पड़ेंगे। उनके वहाँ धर्मपरायण संतों की सेवा कम नहीं थी। लेकिन इन हीन-तत्त्वों की सिरजोरी के पीछे वह गायब हो गई है।

आज हम 'धर्ममय समाजरचना के प्रयोग' करने जा रहे हैं। लेखक ने 'धर्म' शब्द का अत्यन्त व्यापक, शुद्ध, पवित्र और कल्याण-कारी अर्थ लिया है। अगर हम सामाजिक प्रयोगों में देवोपासक हिन्दू, असुरोपासक आर्य पारसी लोग, सनातनी हिंदू, यहूदी, ईसाई, मुसलमान, ब्रह्मसमाजी, बुद्धिवादी और नास्तिकों के समन्वित समाज-रचना का प्रयोग करने चलें तो पता चलेगा कि इन धर्मों में धार्मिकता कितनी जागृत है और धर्म-कलेवर की प्रधानता कितनी है?

महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पंडित मालवीयजी, श्रीमती एनी बेसंट, योगी श्रीअरविंद आदि लोगों ने धर्ममय समाजरचना के प्रयोग करने के लिये अपने-अपने आश्रमों की स्थापना की। इन प्रयोगों ने बहुत कुछ उन्नति करके दिखाई। लेकिन इनका वायुमंडल

और सदस्य-संख्या ज्यादातर हिंदू की ही रही है। सब धर्मों को सही मानना, सब धर्मों का, उनके नबियों का और उनके धर्म-ग्रन्थों का आदर करना, हिंदू-संस्कृति की बुनियाद में है ही। यही बात जब हम अखिल भारतीय बहुधर्मी संस्कृति की बुनियाद बना सकेंगे, तभी जाकर हम युगानुकूल प्रयोग कर सकेंगे। धर्म-कलेवर से, Orthodoxy से बंधे हुए लोग यह काम व्यापक पैमाने पर नहीं कर सकेंगे। थियोसॉफी ने जो काम किया, वह हिंदुओं में जितना व्यापक हो सका उतना ईसाइयों में नहीं हुआ। और थियोसॉफी का असर मुसलमानों पर कितना हुआ सो तो वे ही जानें।

अभी-अभी M.R.A. वालों ने कुछ प्रवृत्ति चलायी है सही, लेकिन वह बड़े-बड़े और टेढ़े सवालों को हाथ में लेने की हिंमत ही नहीं करती। वह सारी प्रवृत्ति अपने पर खुश है, लट्टू है, उसे छेड़ना हमारा काम नहीं है। धर्ममय सामाजिक प्रयोग करना है तो सर्व-धर्ममूलक, सर्वसंग्राहक नया ही कलेवर उसे देना पड़ेगा; और फिर खास इस बात को संभालना होगा कि यह सर्वसंग्राहक, सर्वकल्याणकारी प्रवृत्ति केवल सद्बुद्धिप्रेरित एक छोटी सी जमात न बन जाय।

सर्वधर्म-समभाव का रूपांतर सर्वधर्म-ममभाव में होना ही चाहिये। याने सभों के कलेवरों की हम इज्जत करें। लेकिन आग्रह रखें, सर्व-धर्मसंग्राहक प्रवृत्ति के नीरोगी, बलवान और वर्धमान समन्वित कलेवर का।

अथवा इसे हम कलेवर न कहें, इसे तो वायुमंडल ही कहना चाहिये। हम देखते हैं कि धर्मों के झगड़े बहुत हो सकते हैं, संस्कृतियों के अनुपात में कम धर्मों का संगठन बद्ध होता है। संस्कृतियों का संगठन 'कल्याणकारी, बलदायी-संगठन' होते हुए भी वह मुक्त-संगठन होता है। समाज को स्मृतियों से बांधने का जमाना अब रहा नहीं, आयंदा आने की संभावना भी नहीं। मुक्त समाज स्वेच्छा से अपने को कमोवेश संगठित करेगा। इसके लिये कानून का सहारा कम से कम लिया जायगा। आज के बहुत से सामाजिक कानून रद करने की हिंमत किये बिना चारा ही नहीं।

अपने चारित्र्य के कारण, व्यापक दृष्टि के कारण, समाजसेवा के कारण, और उज्ज्वल भविष्य को देखने की और उसे दिखाने की दिव्यशक्ति के कारण जो समाज के नेता आप ही आप बन जाते हैं, उन्हीं के अभिप्राय के प्रति स्वाभाविक आदर के द्वारा समाज संगठित हो जायेगा।

संगठन का उत्तम फल यह है कि वह संगठन के अंदर के लोगों को आत्मीयता से बांध देता है। लेकिन उसका यह भी एक फल होता है कि संगठन से बाहर के व्यक्तियों को वह पराया समझता है। ऐसा परायापन ही धार्मिकता का, अध्यात्मिकता का और स्वीकार वृत्ति का द्रोह करता है। यही बड़ी नास्तिकता है। संगठन जब मूर्तिमान बनता है तब उसमें दृढ़ता भी आती है और संकुचितता भी आती है इसका इलाज ढूंढना चाहिये। जड़–चेतन का विवाह ही तो जीवन है। जड़ को मायारूप कहने से रास्ता नहीं निकलता और चेतन का इन्कार करने से हम कहीं के भी रह नहीं सकते।

अध्यात्म-परायण लोगों को चाहिये कि वे श्रुति, स्मृति, पुराण और तंत्र का सारा इतिहास ध्यान में लें और उनके बंधन में न रहते हुए नये जमाने के लिये एक लचीली, प्राणवान, वर्धमान, सर्वसंग्राहक मूर्ति (संगठनबद्ध समाज) तैयार करें। अथवा, मूर्ति जब बने तब बने। पुरानी मूर्तियों को गला कर एक सर्वकल्याणकारी वायुमंडल तैयार करें। और उसके अंदर सर्वसंग्राहक सर्वोदयकारी प्रयोग आजमावें। ऐसा करते हुए कई चीजें छोड़ देनी होंगी, जिन पर आज हमें नाज है। सबको साथ लेने के लिये सबके साथ आत्मीयता का अनुभव करने के लिये नीचे उतरना पड़े तो उतरना भी इष्ट होगा। ताकि हम सब मिल कर उन्नति की ओर सामुदायिक प्रयाण कर सकें। इस युग का सूत्र है—"साधना अब व्यक्तिगत नहीं, किंतु सामुदायिक होगी। एकांगी नहीं, किंतु सर्वांगी होगी। मुक्ति याने सर्वमुक्ति। और उदय याने सर्वोदय।"

यह सब बातें केवल चिंतन का विषय नहीं है, प्रयोग का विषय है। इन दो मुनियों ने इस दिशा में शुभ प्रारंभ किया है; इसलिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। इनके प्रयोग, इनकी चिंतन-मीमांसा और इनके अनुभव अभिनंदनीय हैं और आदरपात्र हैं।

आशा करता हूं कि इस ग्रन्थ को पढ़ कर अनेक लोग नये-नये ढंग से अध्यात्ममूलक स्वतंत्र सामाजिक प्रयोग करने की हिंमत करेंगे। परंपरा की कदर किये बिना कोई भी प्रयोग प्रवृत्त हो नहीं सकता। किंतु परंपरा के फँदे में फँसने से तो प्राण ही गले में घुट जायेगा। आयंदा के सब प्रयोग समष्टि के होंगे और पूर्णरूप से प्राणोपासक भी।

दो शब्द

आधुनिक समाज में विज्ञान और टेक्नोलॉजी का आश्चर्यजनक विकास हुआ है। इसके कारण दूर के देश भी एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं और समस्त संसार एक बड़ा परिवार बन गया है।

किन्तु विज्ञान के विकास में साथ-साथ हिंसा व विद्वेष की भी अपूर्व वृद्धि हुई है। और आज की दुनिया विनाश की ओर तेजी से जा रही है। यदि संसार को इस विनाश से बचाना है तो यह स्पष्ट है कि हमें विज्ञान के साथ-साथ धर्मभावना को बढ़ावा देना होगा। इस धर्मभावना के अभाव में आधुनिक विज्ञान व यंत्रीकरण वरदान के बजाय एक अभिशाप सिद्ध होगा।

मुनि नेमिचन्द्रजी ने 'धर्ममय समाजरचना का प्रयोग' पुस्तक में इसी विषय का विस्तार से विवेचन किया है। मैं आशा करता हूँ कि उनकी इस रचना का देश में समुचित स्वागत होगा और पाठकों को समाज में धर्ममयता का प्रचार करने में प्रेरणा मिलेगी।

भारतीय राजदूतावास
दिनाङ्क २६ सितम्बर १९६६

—श्रीमन्नारायण
भारतीय राजदूत, नेपाल, काठमांडू

रहे हैं। विश्ववात्सल्य प्रायोगिक संघ की शिक्षाशाखा द्वारा जो पारि-भाषिक-समिति स्थापित की गई थी, (यद्यपि हमारे विहार छोड़ने के बाद वह प्रायः स्थगित हो गई है) का उन्होंने अध्यक्ष-पद स्वीकृत किया था। उनके द्वारा लिखित प्रस्तावना पुस्तक के लिए 'सोने में सुगन्ध' की कहावत चरितार्थ करेगी।

धर्ममय समाजरचना-प्रयोग को अनुबन्ध-विचारधारानुसार सक्रिय रूप से प्रारम्भ करने का श्रेय भालनलकांठाप्रदेश को है; परन्तु यह प्रयोग विश्वभर में फैलने की क्षमता रखता है, इसी कारण बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, कलकत्ता और भिलाई अनेक स्थलों में एक या अनेक प्रवृत्ति-केन्द्र स्थापित हुए हैं। गुजरात में इस प्रयोग की ग्राम-लक्षी प्रवृत्तियाँ फैलीं। अब इसी प्रयोग के संदर्भ में नेमिमुनि उत्तर-प्रदेश में और मणिचन्द्र जनकमुनि (श्वे० मू० पू० सम्प्रदाय के स्व० विजयवल्लभसूरिजी के शिष्य तथा वर्तमान आचार्य श्री समुद्रसूरिजी महाराज के आज्ञानुवर्ती) हरियाणाराज्य में प्रयोग की नींव डालने में जुटे हुए हैं। गतवर्ष इन दोनों मुनियों ने यमुनानगर में संयुक्त चातुर्मास बिताया था। इस तरह इस पुस्तक के प्रकाशन में नेमिमुनि के लघुबन्धु के रूप में प्रिय जनकमुनि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। पुस्तक-प्रकाशन करने वाली संस्था को भी इन्हीं की प्रेरणा मुख्यतः रही है।

अतः इस प्रयोग की विचारधारा के प्रणेता और प्रत्यक्ष अनुभवी के रूप में मैं अपनी शुभेच्छाएं यहाँ प्रस्तुत करके सबको और खासकर पुस्तक-लेखक नेमिमुनि को धन्यवाद देता हूँ।

प्रस्तुत प्रयोग को क्रियान्वित करने में भारतीय ग्राम मुख्य माना गया है। और भारतीय किसान है ग्राम का मुख्य केन्द्र। इस दृष्टि से भालनलकांठाप्रयोगानुबन्धी प्रयोगप्रवृत्तियों में नैतिक ग्रामसंगठन का प्रधान अंग किसान-मण्डल ही प्रयोग की सक्रियता की बुनियाद है। अन्य क्षेत्रों में स्वतंत्र इस मंडल का राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेस

के साथ पूरक और संशुद्धिकर अनुबन्ध रखना अनिवार्य होता है। ऐसी दशा में काँग्रेस के प्रति पूरकता का धर्म निभाते हुए राजनैतिक-संस्था सम्बन्धी प्रलोभन भी आएँगे और संघर्ष भी; क्योंकि वैसा किए बिना किसानमण्डल काँग्रेस को ग्रामलक्षी बनाने का भागीरथ कार्य नहीं कर सकेगा। इसीलिए किसानमंडल को नैतिक प्रेरणा देने वाले प्रायोगिक संघ (जनसेवक-संगठन) की जरूरत रहेगी, और आध्यात्मिक मार्गदर्शन देने वाले क्रान्तिप्रिय संत के अनुबन्ध की भी जरूरत रहेगी।

ऐसा किये बिना भौतिकता की वर्तमान बाढ़ के समय धर्ममय समाजरचना के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्रों में अध्यात्मलक्षी शुद्धधर्म का पुट देना अशक्य है। इसी कारण योगी श्री अरविन्द और महात्मा गाँधीजी भारत के द्वारा स्थायी विश्वशान्ति होने की संभावना देखते थे। महावीरपरम्परा में तप-त्यागादि साधन के द्वारा सामूहिक रूप से अहिंसा-प्रयोग करने की क्षमता (साम्प्रदायिकता की इतनी सुदृढ़ प्राचीरें होते हुए भी) होने से भालनलकांठाप्रयोग गाँधीजी के सत्य-अहिंसा के प्रयोगों और जैन-परम्परा के समन्वय के रूप में खड़ा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग साधु-साध्वी-संन्यासियों द्वारा राष्ट्र के कोने-कोने में शुरू हो और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के रचनात्मक परिबलों का संकलन हो; ये दोनों वर्तमान जगत् की मुख्य आवश्यकताएँ हैं।

इस पुस्तक द्वारा उस दिशा में मार्गदर्शन का यत्किञ्चित् भी कार्य हुआ तो नेमिमुनि और जनकमुनि दोनों का परिश्रम सार्थक समझा जाएगा।

शियाल (अहमदाबाद) —'संतबाल'

प्रकाशकीय

श्रीआत्मानन्द जैन कालिज, अम्बाला शहर की स्थापना सन् १९३८ ई० में अज्ञानतिमिरतरणि, कलिकालकल्पतरु, भारत दिवाकर, पंजाबकेसरी श्री श्री १००८ जैनाचार्य स्व० श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर जी के करकमलों द्वारा हुई थी। उनका यह प्रयास अपने परम आराध्य गुरुदेव प्रातः स्मरणीय, न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री श्री १००८ स्व० श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर (प्रसिद्ध नाम श्री आत्मारामजी) की सरस्वती–मन्दिरों की स्थापनाविषयक अन्तिम भावना को साकाररूप देने के लिए था। वे १९वीं शताब्दी के आदर्शसाधु, दिग्गज विद्वान्, उच्चकोटि के लेखक व कवि थे, जिन्होंने तत्कालीन सांस्कृतिक जागरण (Cultural Renaissance) में योगदान दिया। वे शिक्षा-प्रचार द्वारा जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त अहिंसा व सत्य का प्रचार करना चाहते थे। अतः उनकी पुण्यस्मृति में स्थापित इस कालिज का निम्न उद्देश्य निश्चत किया गया था—धार्मिक, नैतिक और व्यावहारिक शिक्षा का प्रबन्ध करना, अहिंसा व सत्य के सिद्धान्तों का प्रचार करना, मानवजाति की सेवा की भावना को जागरित करना, जैन–साहित्य के पठनपाठन को प्रोत्साहित करना, सहिष्णुता, परोपकार और समन्वय की भावना का विकास करना।

इन लक्ष्यों को दृष्टिसन्मुख रखते हुए कालिज लगभग तीस वर्षों से पंजाब, हरियाणा, दिल्ली व राजस्थान की जनता की सेवा कर रहा है। हरियाणा राज्य के सबसे पुराने दो कालिजों में इसका स्थान है और आज यह विकास करते-करते एक महान् वृक्ष का रूप धारण कर चुका है; जिसकी छाया, पत्तों, फूलों व फलों ने जनसाधारण का उपकार किया तथा उच्चशिक्षा के साधन जुटाए।

कालिज के संस्थापक श्रीमद् विजयवल्लभसूरीश्वरजी के शिष्य जैन मुनि श्री जनकविजयजी ने सर्वांग ग्रामीण जनता के कल्याण, धर्ममय समाजरचना की स्थापना, अहिंसा, शाकाहार व मद्यनिषेधादि के प्रचार के पवित्र उद्देश्य से अम्बाला जिला के गांवों का पैदल दौरा किया और यह अनुभव किया कि इन गांवों में ही नयी समाजरचना का भवन खड़ा कर सकते हैं। गुजरात में जैनमुनि सन्तबालजी ने इस विषय में महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए हैं। उनके साथ इस पुस्तक के लेखक मुनि श्री नेमिचन्द्रजी का घनिष्ठ सम्पर्क व सक्रिय सहयोग रहा है। मुनि नेमिचन्द्रजी ने इस पुस्तक में अहिंसा व सत्य के आधार पर निर्मित होने वाली समाजरचना की आवश्यकता और उसकी सिद्धि के लिए उपायों पर विशद विश्लेषण द्वारा प्रकाश डाला है। कार्यकर्त्ताओं के लिए यह एक आदर्श मार्गदर्शक सिद्ध होगी। इसी ध्येय से कालिज ने इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व सम्भाला।

हम मुनि नेमिचन्द्रजी तथा प्रस्तावना-लेखक प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक वयोवृद्ध काका कालेलकरजी के हृदय से आभारी हैं। हमें विश्वास है कि जनसेवक कार्यकर्ता इससे लाभ उठायेंगे और मुनि जनकविजय जी के कार्य में पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

भाई दूज वि० सं० २०२४
३—११—१९६७

रामनाथ मोंगा, प्रिंसिपल,
श्री आत्मानन्द जैन कालिज,
अम्बाला शहर

...य समाजरचना का प्रयोग

१

प्रयोग की पृष्ठभूमि

विश्व की समस्याएँ

... संसार में चारों ओर जहाँ देखो वहाँ दुःख, क्लेश, संघर्ष, ...भय, विषमता, अशान्ति, बेचैनी, अन्याय, अत्याचार, अनाचार ...राजकता छाई हुई है। इन बुराइयों और दुःखों के कारण ... अव्यवस्था फैली हुई है, संसार समसूत्र पर नहीं है। एक ...दूसरे राष्ट्र के प्रति आशङ्कित है। एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त के ... कभी कल्पित भौगोलिक सीमाओं को लेकर तो कभी भाषा या ...न्धता, पक्षान्धता या प्रान्तीयता को लेकर आपस में विवाद, संघर्ष ... सिरफुटौव्वल होता है। किसी मनुष्य को अपनी जाति, प्रान्त, ... और राष्ट्र की सुरक्षा का भय है तो किसी को सीमावर्ती पड़ौसी ... के आतंक का डर है। कोई अपने पर किसी जबरदस्त द्वारा ... गये अन्याय और अत्याचार से पीड़ित है तो कोई किसी सबल ... किये गये शोषण, स्वामित्व, दमन, छीनाझपटी और उद्दण्डता ...कारण पीड़ित और पददलित है। कहीं परिवार, समाज और राष्ट्र ...ही अधिकारों, अहंत्व-ममत्त्व और सत्ता को लेकर पारस्परिक झगड़े, ...मनस्य और संघर्ष चल रहे हैं तो कहीं किसी एक पक्ष की ज्यादती ... कारण लेनदेन के मामले को लेकर झगड़े हो रहे हैं, संघर्ष छिड़ा

[illegible]
[illegible]
[illegible] किया कि [illegible]
[illegible] सकते हैं। गुजरात में [illegible]
[illegible] प्रयोग किए हैं। [illegible] इस पुस्तक [illegible]
[illegible] मुनि श्री नेमिचन्द्रजी का [illegible] सहयोग
रहा है। मुनि नेमिचन्द्रजी ने इस पुस्तक में अहिंसा व सत्य के
आधार पर निर्मित होने वाली समाज-रचना की आवश्यकता और उसकी
सिद्धि के लिए उपायों पर विशद विवेचना द्वारा प्रकाश डाला है।
कार्यकर्ताओं के लिए यह एक आदर्श मार्गदर्शक सिद्ध होगी। इसी
ध्येय से कालिज ने इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व सम्भाला।

हम मुनि नेमिचन्द्रजी तथा प्रस्तावना-लेखक प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक वयोवृद्ध काका कालेलकरजी के हृदय से आभारी हैं। हमें विश्वास है कि जनसेवक कार्यकर्ता इससे लाभ उठायेंगे और मुनि जनक-विजय जी के कार्य में पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

भाई दूज वि० सं० २०२४
३—११—१९६७

रामनाथ मोंगा, प्रिंसिपल,
श्री आत्मानन्द जैन कालिज,
अम्वाला शहर

मेरा मन्तव्य

आज इस देश में समाजरचना के विचार और आन्दोलन की बात बहुत कमजोर पड़ गई है; क्योंकि शायद स्वाधीनता-पूर्व के युग के त्याग और बलिदान की प्रतिक्रिया इन बीस वर्षों में भोग तथा स्वार्थसाधन की असीम वृद्धि के रूप में हुई है और समाजरचना को सरकार का कर्त्तव्य मान कर उसे उसी पर छोड़ दिया गया है। हम यह प्रायः भूल ही गये हैं कि सरकारी तंत्र में कुछ अनिवार्य बुराइयाँ और सीमाएं होती हैं और लोक-तन्त्र बिना लोकशक्ति के जागृत, सशक्त तथा सक्रिय नैतिक आधार के टिक ही नहीं सकता। जो नहीं भूले हैं, वे हैं सन्त विनोबा जी के नेतृत्व में कार्यरत सर्वोदय समाज, (आचार्य) तुलसी से प्रेरित अणुव्रती, (मुनि) श्री सन्तबाल जी के अनुप्राणित कुछ साधु तथा कार्यकर्ता और ऐसे ही अन्य थोड़े से विचारशील तथा कार्यशील लोग।

इस 'धर्ममय समाजरचना का प्रयोग' के पीछे संतबाल जी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रेरणा और उनकी संगठन तथा कार्यशक्ति का बल है। समाजरचना के साथ धर्म को जोड़ना जितना साहसपूर्ण है, उतना खतरनाक भी है। यद्यपि भारतीय संस्कृति में 'धर्म' से अधिक व्यापक और अर्थपूर्ण शब्द, जिसमें नैतिकबल, आध्यात्मिक शक्ति और सामाजिक कर्तव्यशीलता का सुन्दर समावेश तथा समन्वय हो सके, दूसरा नहीं है, पर स्वार्थ-सिद्धि, संकुचितता और सत्वहीनता का जैसा दौरदौरा इस देश के तथा दुनिया भर के सभी धर्मों और पंथों में लगभग निरपवाद-रूप से हो रहा है, उससे यह शब्द जितना बदनाम हुआ है, उतना शायद ही दूसरा कोई हुआ है।

इस रचना में जहां सैद्धान्तिक चिन्तन का आधार ठोस है, वहां व्यावहारिक प्रयोग का बल भी पर्याप्त है। किसी भी ऐसी पुस्तक को पढ़ते समय अनेक प्रश्नों तथा शंकाओं का उठना स्वाभाविक है और मतविभिन्नता या भाव विभिन्नता का उभरना भी अस्वाभाविक नहीं है, लेकिन इन सब का समाधान वास्तविक प्रयोग तथा उसके वैज्ञानिक चिन्तन विवेचन और तदनुसार संशोधन में है और वह मुनि नेमिचन्द्र जी कर रहे हैं। मेरे ख़्याल से इस पुस्तक की सबसे बड़ी उपयोगिता इसी चिन्तन तथा प्रयोग की पारस्परिक प्रेरणा से है।

ता० ५-१२-६७
जयपुर

—जवाहिर लाल जैन

धर्ममय समाजरचना का प्रयोग

१

प्रयोग की पृष्ठभूमि

विश्व की समस्याएँ

आज संसार में चारों ओर जहाँ देखो वहाँ दुःख, क्लेश, संघर्ष, आतंक, भय, विषमता, अशान्ति, बेचैनी, अन्याय, अत्याचार, अनाचार और अराजकता छाई हुई है। इन बुराइयों और दुःखों के कारण संसार में अव्यवस्था फैली हुई है, संसार समसूत्र पर नहीं है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति आशङ्कित है। एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त के साथ कभी कल्पित भौगोलिक सीमाओं को लेकर तो कभी भाषा या धर्मान्धता, पक्षान्धता या प्रान्तीयता को लेकर आपस में विवाद, संघर्ष और सिरफुटौव्वल होता है। किसी मनुष्य को अपनी जाति, प्रान्त, कौम और राष्ट्र की सुरक्षा का भय है तो किसी को सीमावर्ती पड़ौसी राष्ट्र के आतंक का डर है। कोई अपने पर किसी जबरदस्त द्वारा किये गये अन्याय और अत्याचार से पीड़ित है तो कोई किसी सबल द्वारा किये गये शोषण, स्वामित्व, दमन, छीनाझपटी और उद्दण्डता के कारण पीड़ित और पददलित है। कहीं परिवार, समाज और राष्ट्र में ही अधिकारों, अहंत्व-ममत्व और सत्ता को लेकर पारस्परिक झगड़े, वैमनस्य और संघर्ष चल रहे हैं तो कहीं किसी एक पक्ष की ज्यादती के कारण लेनदेन के मामले को लेकर झगड़े हो रहे हैं, संघर्ष छिड़ा

हुआ है, मारपीट हो रही है, मुकद्दमेबाजी चल रही है। और इ
प्रकार अन्याय से पीड़ित व्यक्ति या तो समाज में चोरी, डकैती, लू
पाट या गुंडागर्दी करने पर उतारू हो जाता है या फिर अन्याय क
चुपचाप मन मसोस कर सहता जाता है। कहीं किसी की इष्ट वस्
का वियोग हो जाने, चुराये जाने या इष्ट व्यक्ति या स्त्री के अपहर
किये जाने, उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार किये जाने के कार
अशान्ति मची हुई है, तो कहीं दरिद्रता, भुखमरी, अन्न की तंगी
आर्थिकतंगी, या बेरोजगारी के कारण हाहाकार मचा हुआ है। कहं
जाति, वर्ण, कौम, वृत्ति, गरीब-अमीर उच्च-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य ए
काले-गोरे रंग को लेकर मानव-मानव के बीच कृत्रिम भेदभाव होने
विषमता फैली हुई है तो कहीं गलत रीति-रिवाजों, कुरूढियों औ
कुप्रथाओं को लेकर अरण्यरोदन हो रहा है। कहीं फिजूलखर्ची, फैशन
परस्ती और शराब, गांजा, अफीम आदि के व्यसनों के कारण दुः
छाया हुआ है, तो कहीं उद्दण्डतत्त्वों, अराजकदलों, गुंडों, बदमाश,
तथा तोड़फोड़ और मारकाट मचाने वाले राजनैतिक पक्षों के उपद्रवों
के कारण अराजकता-सी छाई हुई है तो कहीं लुटेरों, चोरों, तस्कर
व्यापारियों, चोर-बाजारियों, भ्रष्टाचारियों, अनैतिक-व्यापारियों,
मुनाफाखोरों, संग्रहखोरों, बेईमानों और धोखेबाजों के कारण समाज
में त्राहि-त्राहि मची हुई है। कहीं सरकार के अत्याचारी कानूनों,
मर्यादातीत करों और अत्यधिक दमन के बोझ एवं जीवन के सभी
क्षेत्रों पर सरकार के प्रभुत्व के नीचे दबी हुई जनता कराह रही है।
कहीं अत्यधिक महंगाई और जीवनस्तर ऊँचा उठाने के भ्रम में पड़
कर बढ़ाई हुई अति आवश्यकताओं के कारण परिवार की कमर टूट
रही है। कहीं शिक्षा के साथ-साथ विद्यार्थीजीवन में बढ़ती हुई
उच्छृंखलता, निरंकुशता, अनुशासनहीनता, धर्मविमुखता, मर्यादा-
हीनता और अविनय के कारण घर-घर में बेचैनी छाई हुई है, तो

कहीं वर्तमान शिक्षा की दूषित राष्ट्रीय संस्कृतिघातक मनमानी पद्धति और शिक्षा के सरकारी चंगुल में फंसी हुई होने के कारण जीवन-निर्माण की उपेक्षा करके केवल परीक्षाएँ पास कर लेना डिग्रियाँ व नौकरियाँ प्राप्त कर लेना आदि शिक्षा के गलत उद्देश्य के कारण सरकार, परिवार और समाज चिन्तित है। कहीं सत्ता की कशमकश, पदों, अधिकारों और सत्ता की छीनाझपटी और वादों के प्रचार के बवंडर के कारण समाज व राष्ट्र में महाभारत छिड़ा हुआ है तो कहीं राष्ट्रों में परस्पर जनसंहारक शस्त्रास्त्रों की होड़ और युद्धलिप्सु या साम्राज्यविस्तारलोलुप राष्ट्रों की जोड़तोड़ के कारण संसार पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं। कहीं धर्म-सम्प्रदायों में क्रियाकाण्डों, आचारविचारों या साधनों के मामूली मतभेदों को लेकर फूट, कलह और वैमनस्य बढ़ता जाता है तो कहीं धर्ममूढ़ता, शास्त्रमूढ़ता, देव-मूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्मान्धता और धर्मभ्रम आदि के कारण परस्पर संघर्ष और रागद्वेषवृद्धि से मानवजीवन तबाह हो रहा है। कहीं धर्म के नाम से ठगी, व्यभिचार, अनाचार, वहम, अन्धविश्वास, उदर-भरण, कलह और कदाग्रह आदि दोषों को फैलते देखकर युवकों और शिक्षितों के मानस में शुद्ध व्यापक धर्म के प्रति भी अश्रद्धा जड़ जमाती जा रही है, तो कहीं भारतीय संस्कृति के मूलभूत व्यापक हितकारी तत्त्व समाज से धीरे-धीरे लुप्त हो रहे हैं। कहीं अध्यात्म की ओट में अकर्मण्यता, निष्क्रियता, स्वार्थसाधना, एकान्तसाधना और समाज में चल रहे अनिष्टों के प्रति आँखें मूंद कर केवल व्यक्तिवादी साधना को लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र और प्राणिमात्र की विभिन्न समस्याओं को धर्मदृष्टि से हल करने के प्रति विश्वकुटुम्बी साधुसंतों की उपेक्षा एवं उदासीनता बढ़ती दृष्टिगोचर हो रही है। साथ ही भारतीय संस्कृतिरक्षा के सजग प्रहरी परिवार में माताएँ, समाज में ब्राह्मण (लोकसेवक) एवं विश्व में साधुसंन्यासी अपने उत्तरदायित्व

से भाग रहे हैं। इन बुराइयों, दुःखों और समस्याओं के कारण मानवजाति ही नहीं, समस्त प्राणीवर्ग त्रस्त है।

समाज के हर अंग और हर क्षेत्र के पेचीदा प्रश्न

इस प्रकार परिवार, कुल, जाति, कौम, प्रान्त और राष्ट्र आदि मानवसमाज के सारे अंग और सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्र अनेक पेचीदा समस्याओं, उलझनों और अटपटे प्रश्नों से घिरे हुए हैं। ये ज्वलन्त प्रश्न, उलझनें और समस्याएँ समग्र समाज को कुरेदती रहती हैं। बिना सुलझी और बिना हल की हुई ये समस्याएँ जगत् के धर्मों और धार्मिकों के सामने चुनौती बन कर खड़ी हैं। और पूर्वोक्त प्रकार की या ऐसी ही अनेक समस्याएँ सारे मानवसमाज में अव्यवस्था को जन्म देती हैं; जिससे समाज में नाना दुःख बढ़ते हैं; सुखशान्ति का ह्रास होता है।

दुःख निवारण का असली साधन: धर्म

यद्यपि इन समस्याओं, प्रश्नों एवं तज्जनित दुःखों को मिटाने के लिए मानवजाति ने आज तक अनेक साधन अपनाए; अनेक उपाय अजमाए; तथापि स्थायी और वास्तविक स्वाधीन सुख या समाधान अभी तक नहीं हुआ। सुख की खोज में मानव ने पहाड़ और जंगल छान डाले; दार्शनिक उड़ानें भरीं; योगियों एवं मन्त्र-तन्त्रविदों के पास जाकर योगसाधना, मंत्र, तंत्र, जड़ीबूटी आदि भी प्राप्त कीं; अन्याय-अनीति से धन और सत्ता भी हासिल करके देख ली; पांचों इन्द्रियों और मन को विविध विषयों के बिहड़ बन में उन्मुक्त छोड़ कर भी देख लिया; विलासिता और आमोद-प्रमोद के अनेक साधन भी जुटाए; मदिरा, भांग, गांजा, अफीम, आदि नशीली चीजें सेवन करके अपने दुःखों और दुश्चिन्ताओं को भुलाने का प्रयत्न भी किया; चोरी,

डकैती, व्यभिचार, उद्दण्डता, अराजकता, बेईमानी रिश्वतखोरी आदि दुर्गुणों को अपनाकर भी दुःख-निवारण का प्रयास किया। राजतन्त्रीय, गणतन्त्रीय, अधिनायकतन्त्रीय, और लोकतन्त्रीय आदि सभी शासनपद्धतियों को तथा पूंजीवाद, कौमवाद, वर्गवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद आदि सभी राजनैतिक वादों को अपना कर देख लिया। परन्तु वास्तविक और स्थायी सुख और आनन्द का उसे अनुभव न हुआ। होता भी कैसे? वैसा सुख बाह्य वस्तुओं, इष्ट संयोगों, वैषयिक साधनों या अमुक वादों में था ही नहीं। वह तपस्या व त्यागवृत्ति में; अपनी कुटेवों, बुरी आदतों, बुरे विचारों, स्वार्थी, उच्छृंखलवृत्तियों एवं बुराइयों पर अंकुश लगाने में; अपनी आसक्तियों, कामनाओं एवं लालसाओं पर लगाम लगाने में; संयम, नियम और मर्यादाओं में चलने में; कषायों, राग, द्वेष, मोह, आदि दुर्गुणों एवं तज्जन्य अनिष्टों से दूर रहने में ही था। इसी को प्राचीन ऋषि मुनियों ने एक स्वर से और एक शब्द से 'धर्म' नाम दिया। और साथ ही भ० महावीर जैसे तीर्थंकरों ने यह भी बता दिया—'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'। अर्थात् अहिंसा, संयम और तपरूप (पूर्वोक्तरूप वाला) धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। सारे समाज के जीवन को मंगलमय—सुखमय बनाने वाला धर्म ही है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु ब्राह्मणमन्त्री चाणक्य ने तो अपने 'नीतिसूत्र' में स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'सुखस्य मूलं धर्मः' यानी सुख का मूल धर्म है। इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध होगया कि समस्त दुःख-निवारण का वास्तविक एवं स्थायी साधन धर्म है।

धर्म शब्द का सही अर्थ

धर्म शब्द यहाँ जैन, बौद्ध, वैदिक आदि किसी धर्म या सम्प्रदाय के अर्थ में नहीं है; क्योंकि जैन, बौद्ध आदि विशेषण वाले धर्म एक

प्रकार के तीर्थ, संघ या समाज हैं; जहाँ धर्म के नाम पर [illegible] सकते हैं, या रहते हैं, इसलिए उन्हें भी भ्रम से धर्म कहा जाने लगा। वास्तव में वे शुद्ध और सर्वजीवनव्यापी धर्म नहीं कहलाते। यहाँ तो शुद्ध और सर्वजीवनव्यापी धर्म ही अभिप्रेत है। जिसका लक्षण महाभारत या जैनग्रन्थों में किया है—'धारणाद्धर्ममित्याहुः' 'धर्मो धारयते प्रजाः' यानी जो समग्र विश्व को दुर्गति—पापों, अधर्मों, अनिष्टों, बुराइयों और असंयम के कारण पतन के गड्ढे में गिरते हुए बचाए और सद्गुणों, अच्छाइयों, सत्कार्यों और संयम-मर्यादाओं में स्थित करे; धारण करे उसे 'धर्म' कहते हैं। धर्म समग्र मानवजाति को धारण करके रखता है। इसीलिए तो वेदों में कहा—"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" (धर्म सारे जगत् का मूल आधार है)। गांधी-विचारधारा के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ और कर्मयोगी श्री किशोरलाल मशरुवाला ने धर्म का आधुनिक और व्यावहारिक लक्षण किया है—"जो सारे समाज का धारण, पोषण, रक्षण और सत्त्वसंशोधन करे तथा समाज को सुखमय बनाये, वह धर्म है।" इसी बात को आध्यात्मिक भाषा में वैशेषिक दर्शन ने कहा—"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (जिससे व्यक्ति और समाज का अभ्युदय और निःश्रेयस (कल्याण) सिद्ध हो, वह धर्म है। मतलब यह है कि समाज को समस्त दुःखों से ऊपर उठाने और कल्याणमार्ग पर आरूढ़ करने में जो मूलभूत कारण हो, वही धर्म है।

धर्म को न मानने वाले भी प्रकारान्तर से धर्मपालन चाहते हैं

सवाल यह उठता है कि पूर्वोक्त सभी दुःखों के निवारण और सुखप्राप्ति के मूल साधन धर्म को बता देने, धर्म का सर्वत्र सर्व-हितकारी फल प्रत्यक्ष दिखाई देने एवं धर्म की सर्वमान्य परिभाषा बता देने पर भी पाश्चात्य और विशेषतः साम्यवादी राष्ट्र तथा आज

दंगा-फिसाद, तोड़-फोड़ या शरारत सुहाती है, त्याग, तप, संयम या मर्यादाओं का पालन नहीं सुहाता। विनय, नम्रता या शिष्टाचार उन्हें अखरता है, समाज में हितकर परम्पराओं, विकासवर्द्धक हितकर नियमोपनियमों का पालन उन्हें खटकता है। यही कारण है कि ऐसे देश या व्यक्ति भौतिक सामग्री से समृद्ध होते हुए भी उनका जीवन अशांत, शून्य-सा, चिन्ताग्रस्त, हारा-थका और दबा हुआ-सा प्रतीत होता है। वास्तव में शुद्ध धर्म या उसके अंगों का पालन न करने से वास्तविक सुख से वे कोसों दूर रहते हैं।

वस्तुत: देखा जाय तो जो लोग 'धर्म' को नहीं मानते, उनसे पूछा जाय कि आप समाज में सुव्यवस्था, सुखशान्ति एवं उनके हेतु शुद्ध न्याय, स्वतन्त्रता, अनासक्ति, त्याग, कर्तव्यपालन, सेवाभाव, भलाई, ईमानदारी, सत्य, नीति, परिग्रहमर्यादा आदि सद्गुणों का अस्तित्व देखना चाहते हैं? यदि हां, तब वही बात हुई जिसे हम शुद्ध 'धर्म' कहते हैं। उसमें ये सब सद्गुण और सुखशान्ति के कारण मौजूद हैं। बल्कि इन सबसे ऊपर उठकर समाज में देवत्त्व (दैवीगुण) और भगवत्त्व तक को लाने की क्षमता 'धर्म' में मौजूद है। तब इस सर्वत्र सर्वहितकारी और सुख के मूल व्यापक सद्धर्म को न अपना कर, एक या अनेक सद्गुणों को चाहना रत्न को छोड़ कर काच के टुकड़े को अपनाने के समान है।

फिर भी सारा समाज दु:खी क्यों?

प्रश्न यह होता है कि जब दुनिया में इतने धर्म-सम्प्रदाय हैं; धर्माराधना की प्रेरणा लेने के लिए इतने मन्दिर, मसजिद, गिर्जाघर, गुरुद्वारे, उपाश्रय या धर्मस्थानक हैं, जिनमें विभिन्न धर्मक्रियाएँ की जाती हैं; भगवान की मूर्ति, प्रार्थना [illegible] हैं
[illegible] होते हैं; उनमें आते [illegible]

तिदिन कुछ न कुछ तो अपने व्यक्तिगत जीवन में त्याग, तप नियम आदि करता है; फिर क्या कारण है कि समाज दुःखग्रस्त है? जबकि धर्म को दुःख से मुक्त करने वाला और सुख का मूल बताया गया है।

वर्तमान समाजजीवन पर दृष्टिपात करने से यह साफ प्रतीत हो जाता है कि उस-उस धर्म के अनुयायियों के जीवन में प्रायः शुद्ध धर्म (सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, अपरिग्रहवृत्ति आदि) एवं उसके मूल न्याय-नीति सामूहिक रूप से उतरे नहीं हैं। धार्मिक क्रियाकाण्डों के करने मात्र से मनुष्य में धार्मिकता सामूहिकरूप से नहीं आ जाती। क्रियाकाण्ड तो शुद्धधर्म का जीवनव्यवहार में अभ्यास करने के लिए प्रेरक साधन हैं। अगर जप, तप, नियम, क्रियाकाण्ड आदि करते हुए भी अहिंसासत्यादिमय शुद्ध धर्म जीवन में नहीं उतरा तो वे निष्फल हो जाते हैं। बल्कि कई दफा तो विविध धर्मानुयायियों में क्रियाकाण्डों के कारण धर्माचरण का मिथ्याभिमान हो जाता है। प्रायः तथाकथित धर्मगुरुओं द्वारा अपने धर्म-सम्प्रदाय के घेरे में आ जाने मात्र से स्वर्ग-मोक्ष का परवाना दे दिया जाता है, तब अनुयायी भी इसे सस्ते नुस्खे को पाकर शुद्ध धर्माचरण की आवश्यकता नहीं समझते; बलिक बहुधा धर्मगुरुओं द्वारा भी क्रियाकाण्डों या शुष्क अध्यात्मज्ञान पर जितना जोर दिया जाता है, उतना शुद्ध धर्माचरण पर नहीं दिया जाता। फलतः वे धर्म और परमात्मा पर निष्ठाहीन होकर या औपचारिक श्रद्धा रख कर धर्म-नीति की मर्यादा छोड़ कर मनमाना चलने का प्रयत्न करते हैं। सरकारी अधिकारी, कर्मचारी, सत्ताधारी-मंत्री आदि—, व्यापारी, धनिक, कारखानेदार, मजदूर, मिलमालिक तथा आम जनता भी किसी न किसी धर्मसम्प्रदाय की अनुयायी होती हुई भी, शुद्ध धर्म और नीति-न्याय के आचरण को भुला बैठी है। भ्रष्टाचार, बेईमानी, रिश्वतखोरी, अनीति, अन्याय,

धर्मयुक्त अर्थ, काम और सत्ता

धर्मयुक्त अर्थ तभी होता है, जब वह किसी भी प्रकार के अन्याय, अनीति, द्रोह, बेईमानी, जालसाजी, छीनाझपटी एवं भ्रष्टाचार से या किसी का हक मार कर उपार्जित न किया गया हो। साथ ही वह प्राप्त अर्थ समय आने पर समाज की सेवा में खर्च किया जाता हो, और उस अर्थ या पदार्थ पर अत्यन्त आसक्ति या मूर्च्छा न हो; उसके संग्रह की भी एक मर्यादा हो। इसी प्रकार सत्ता भी धर्मयुक्त तभी मानी जाती है, जब वह जनता की सेवा, सार्वत्रिक हित या जनकल्याण के लिये न्याययुक्त ढंग से विधिवत् स्वीकार की गई हो। उसमें पक्षपात, अन्याय, अत्याचार, राज्यवृद्धि, परराष्ट्रद्वेषभाव आदि दुर्वृत्तियाँ न हो। इसी प्रकार धर्माविरुद्ध या धर्मयुक्त काम उसे कहते हैं, जिसमें कामसेवन या पंचेन्द्रिय-विषयानुकूल पदार्थों के सेवन पर संयम हो, अनासक्ति हो, स्वैच्छिक अंकुश हो, अमुक समय पर उसका त्याग या विरक्ति हो।

अतः निष्कर्ष यह निकला कि अर्थ, काम और सत्ता धर्मानुकूल होने पर ही सुखप्रद हो सकते हैं; समाज में सुख का वातावरण निर्माण कर सकते हैं।

२

प्रयोग की उपयोगिता

व्यक्तिगत रूप से धर्मपालन होने पर भी दुःख क्यों ?

मान लीजिए, एक व्यक्ति धर्मस्थान में अथवा जीवन के सर्वक्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र में किसी न किसी रूप में या किसी हद तक नीति या धर्म का व्यक्तिगतरूप से पालन करता है; फिर भी क्या कारण है कि "सारे समाज में अनेक समस्याएँ ज्यों की त्यों उलझी रहती हैं, अनेक पेचीदा प्रश्न पूर्ववत् खड़े रहते हैं? समाज पर उस का असर कुछ भी नहीं होता और समाज में वे ही पूर्वोक्त अनिष्ट और तज्जन्य दुःख जड़ जमाए रहते हैं; चारों ओर का अनैतिक वातावरण बदलता नहीं ?"

सचमुच यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इस पर प्रत्येक समाज-हितैषी व्यक्ति को गहराई से सोचना चाहिये। बात यह है कि कई लोगों का जो यह मानना है कि एक व्यक्ति के सुधर जाने से समाज पर उसका प्रभाव पड़ेगा और वह सुधर जायगा; अपने आपको सुधार लो या अच्छा बना लो, समाज अच्छा बन जायगा; यह तर्क पूर्ण तथ्ययुक्त नहीं है। अगर एक व्यक्ति के सुधर जाने से या संसारत्याग करके उग्र साधना प्रारम्भ करने मात्र से समाज सुधर जाता या समाज का अनैतिक वातावरण बदल जाता तो भ० महावीर और भ० बुद्ध जैसे त्यागी पुरुष संघों की रचना क्यों करते ?, धर्ममय तीर्थ या संघ क्यों बनाते ? वे व्यक्तिशः ही उपदेश देते और केवल व्यक्ति को ही

अपने जीवन-सुधारने की प्रेरणा करते अथवा उनके अपने त्याग और सुधार से उस समय का सारा समाज बदल गया होता ! परन्तु न तो ऐसा कभी हुआ है और न हो सकना सम्भव है ! हाँ, एक व्यक्ति के स्वजीवन-सुधार और त्याग का प्रभाव कुछ हद तक अवश्य पड़ता है और कुछ व्यक्तियों को जीवनसुधार की प्रेरणा अवश्य देता है; परन्तु सारे समाज को बदलता नहीं। सारे समाज को ही क्यों, अमुक समूह या अमुक जाति को भी नहीं बदलता। सारे समाज को बदलने और उसकी सारी समस्याएँ और प्रश्न हल करने, उसके दुःखों और दुःखों के कारणों का निवारण करने की क्षमता और गुंजाइश इस युग में धर्म (सत्य, अहिंसा, न्याय, नीति आदि) दृष्टि से समग्र-समाज के सर्वांगीण निर्माण के प्रयोग में ही है। अतः उस प्रयोग को क्रियान्वित करने के सिवाय कोई चारा नहीं है।

धर्म समाजव्यापी हो, तभी परिस्थितिपरिवर्तन

दूसरी बात यह है कि जब चारों तरफ का वातावरण खराब हो, अशान्ति और उपद्रव हो, अनिष्टों और अन्यायों से वायुमण्डल दूषित हो; उस समय कोई अध्यात्मवादी साधक यह कहे कि मुझे [illegible] चिन्ता है, मैं तो बिलकुल सुरक्षित हूँ; यह दृष्टि भी यथार्थ नहीं है। [illegible] आसपास चारों ओर आग लगी हो उस समय कोई यह [illegible] तो अपने मकान में सुरक्षित हूँ; आग मेरा क्या [illegible] तक ही टिकेगा, जब तक आग [illegible] पास नहीं आ जाती। जब आग की लपटें निकट [illegible] क्या वह झुलसे बिना रह सकेगा? ठीक इसी तरह [illegible] या अपनी साधना को शुद्ध रखने के लिए भी [illegible] को पहले समाज में चारों ओर फैला हुआ अनिष्ट [illegible] और वातावरण को शान्त और शुद्ध बनाना होगा।

यही कारण है कि चारों ओर की बिगड़ी हुई परिस्थिति में परिवर्तन किये बिना सामान्य व्यक्ति तो टिक ही नहीं सकता, विशिष्ट व्यक्ति भी, चाहे वह कितना ही नीतिमान या धर्मलक्षी क्यों न हो, अकेला टिकना मुश्किल है। उसे कभी न कभी, कहीं न कहीं उस अनीति की आग का स्पर्श हुए बिना न रहेगा। और न ही अकेला नीतिमान या धर्मनिष्ठ व्यक्ति दुःखोत्पादक समस्याओं को ही सुलझा सकेगा। मतलब यह है कि परिस्थितिपरिवर्तन अकेले आदमी के बूते की बात नहीं है।

केवल भाषणों, व्याख्यानों, उपदेशों, मौखिक प्रेरणाओं या लेखों से अथवा किसी व्यक्ति को सिर्फ प्रतिज्ञा दिला देने मात्र से भी परिस्थितिपरिवर्तन सम्भव नहीं है। और न सरकार, समाज, धर्म-सम्प्रदायों या किसी व्यक्ति की आलोचना या निन्दा करने से ही परिस्थिति बदलेगी। भाषणों या उपदेशों से श्रोताओं में तात्कालिक जोश चढ़ाया जा सकता है, या श्मशान-वैराग्य पैदा किया किया जा सकता है; परन्तु सोडावाटर के उफान को तरह थोड़े ही समय बाद वह शान्त हो जाता है। यही हाल लेखों और मौखिक प्रेरणाओं का है। वर्तमान युग का मनुष्य बहुत पढ़ता है, बहुत जानता-सुनता है और बहुत ही दार्शनिक उड़ानें भरता है, लेकिन उसके जीवन में कुछ खास परिवर्तन नहीं होता और न वह समाज की बिगड़ी हुई परिस्थिति को पलट सकता है। आत्मा-परमात्मा की बातें करने वालों और दुनियाभर का तत्त्वज्ञान बघारने वालों का जीवन भी आज प्रायः नीतिशून्य, मानवताहीन और बेबुनियाद देखा जाता है। कई जगह अमुक व्रतों या नैतिक नियमों के बारे में प्रतिज्ञाएँ जोश चढ़ाकर दिलाई जाती हैं। प्रसिद्ध साधुसंतों या वक्ताओं के प्रभाव में आकर सभाओं में अकसर बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी, कर्मचारी या अनीति-मान व्यापारी प्रतिज्ञा तो ले लेते हैं, अखबारों के पन्नों पर वह समाचार

या पूर्णरूप से उसमें अभ्यस्त हो सके। मतलब यह है कि वक्ता को व्याख्यान, भाषण, उपदेश या प्रेरणा से ही छुट्टी न पाकर उक्त श्रोताओं या प्रतिज्ञाबद्ध लोगों को उलझन आने पर, समस्या खड़ी होने पर या शंका पैदा होने पर यथोचित मार्गदर्शन करना होगा, व्यावहारिक रास्ता सुझाना होगा। जैसे किसी उग्रसाधक ने 'सत्य के आचरण' पर व्याख्यान दिया। किन्तु सत्याचरण में विघ्न, अड़चन या उलझन आने पर जब कोई श्रोता उससे न्यायोचित व्यवहारिक मार्ग पूछने आए, तब वह बगलें झांकने लगे या उटपटांग उत्तर देने लगे तो इससे उस श्रोता का मानसिक समाधान न होगा; वह उलझन में पड़ा रह कर यथार्थरूप से सत्याचरण भी कैसे कर सकेगा? अतः सत्याचरण पर दिया गया उक्त व्याख्यानदाता का व्याख्यान या तो श्रोताओं का क्षणिक मनोरञ्जन करने वाला हुआ या तात्कालिक जोश चढ़ाने वाला हुआ; मगर सत्याचरण की लौ जगाने या सत्य का आचार करने वाला न हुआ।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि केवल एक या अनेक व्यक्तियों के द्वारा व्याख्यानश्रवण, साहित्यपठन या प्रतिज्ञाग्रहण से सारे समाज में पैदा हुई अनीति, अन्याय या अधर्म से परिपूर्ण परिस्थिति नहीं बदल जाती। उक्त चीजों से समाज में कभी-कभी विचार-परिवर्तन का ज्वार जरूर आ जाता है। लोगों में यह विवेक पैदा हो जाता है कि अन्याय, अनीति या अधर्म का आचरण बुरा है। मगर बुरे को बुरा समझते हुए भी मनुष्य उसे परिस्थितिवश छोड़ नहीं पाता। जैसे 'रिश्वत देना बुरा है' यह समझते हुए भी जब वह यह देखता है कि रिश्वत दिये बिना मेरा कार्य कई दिनों तक हो नहीं सकेगा; मुझे अनेक बार किराये के पैसे खर्च करके यहाँ तक धक्का खाना पड़ेगा; समय भी काफी बर्बाद होगा; इतने समय में उधर दूकान

का काम चौपट हो जायगा, तब वह औरों की देखादेखी स्वयं भी रिश्वत देने को तैयार हो जाता है। इसलिए समाज के बहुसंख्यक लोगों के विचारपरिवर्तन मात्र से परिस्थिति नहीं बदलती और हृदय-परिवर्तन तो शत-सहस्र में से किसी एक का होता है; जो परिस्थितियों के आगे घुटने न टेके, विकट परिस्थिति में भी अटल रहे या किसी महात्मा के एक वचन से ही एकदम अपना जीवन बदल दे। इसलिए सारे समाज में सुखवर्द्धक, शान्ति और संतोष-प्रदायक वातावरण न अकेले विचार-परिवर्तन से होता है और न अकेले हृदय-परिवर्तन से ही; अपितु हृदय, विचार और परिस्थिति तीनों के साथ-साथ परिवर्तन से ही सुन्दर सुखद वातावरण तैयार होता है। और परिवर्तन का ऐसा त्रिकोण तभी बनता है, जब शुद्ध धर्म को उसके अंगोपांगों सहित समाजजीवन में व्याप्त कर दिया जाय। अर्थात् समाज के संस्कारों में धर्म रम जाय अथवा कम से कम सारे समाज पर—समाज की हर प्रवृत्ति पर—धर्म का नियंत्रण रहे। सारे समाज पर धर्म का नियंत्रण तभी हो सकता है, जब धर्म को दृष्टिगत रख कर समाज का सर्वांगीण निर्माण करने का प्रयोग हो।

अकेले कानून से त्रिविध परिवर्तन सम्भव नहीं

कोई यह सवाल कर सकता है कि "वर्तमान समाज इतना बीमार है कि उसके लिए कोई भी उपाय कारगर होना कठिन है। इसलिए सरकार यदि सभी बुराइयों के खिलाफ कानून बना दे और उसे भंग करने वालों के लिए अमुक दण्ड नियत कर दे तो क्या कोई भी व्यक्ति [illegible] कर सकेगा? तब परिस्थितिपरिवर्तन होने में क्या [illegible] लगेगा?" पाश्चात्य देशों के लोग इसी ढंग से सोचा करते हैं [illegible] भारतवर्ष की तरह धर्मसंस्कारयुक्त समाजव्यवस्था थी [illegible] व्यवस्था ही वहाँ सदा से समग्र समाज को चलाती रही।

धर्मसंस्थाएँ थीं जरूर, हैं भी; लेकिन उनका कार्यक्षेत्र धार्मिक क्रियाकाण्ड करा देने, संस्कार दे देने और धर्मप्रचार कर देने तक ही सीमित रहा। जबकि यहाँ धर्म को मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र की हर प्रवृत्ति में स्थान मिला। वास्तव में देखा जाय तो सरकारी कानून द्वारा विचार-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन तो असम्भव है, परिस्थिति-परिवर्तन भी होना दुःशक्य है। क्योंकि कानून के साथ उस कानून का अमल कराने के लिए दण्ड आता है। दण्डशक्ति की धाक से कदाचित् भयवश मनुष्य किसी बुराई से कुछ समय तक रुक जाय; परन्तु उस अनिष्ट या पापाचरण से विरक्ति के संस्कार उसमें जम नहीं पायेंगे। और वह मौका मिलते ही फिर खुल कर खेलने लगेगा। या दण्ड से बचने के लिए अधिकारियों या सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत देकर एक और पाप करेगा या किसी भी तरह के हथकंडे करेगा। दूसरी बात यह है कि कानून बनाने वाली सरकार जनता के सामने कभी गीता, बाइबिल जैनागम या पिटक लेकर नहीं जायगी, न धर्म-दृष्टि से उसे समझाने के लिए जायगी; तब विचारपरिवर्तन तो हो ही कैसे सकता है? हृदय-परिवर्तन तो बहुत ही दूर की बात है। वह कानून के सामर्थ्य से बाहर की चीज है। परन्तु जब कोई चारा नहीं रहता, धर्म सामाजिक बीमारी की चिकित्सा करने से कतराता है या उत्तरदायित्व से भागता है, तब कानून और दण्ड द्वारा सरकार परिस्थिति को दबाने का प्रयत्न करती है। मगर उससे परिस्थिति बदलती नहीं, दब जाती है।

सारे समाज पर नीति-धर्म का अकुश कैसे हो?

आज परिस्थिति यह है कि अधिकांश लोग सरकारी कानूनों की भी परवाह नहीं करते। वे समाज में अनिष्ट आचरण करके सरकार के दण्ड से बचने का भरसक प्रयत्न करते रहते हैं। समाज में जो जबरदस्त तत्त्व हैं, उद्दण्ड हैं, अराजक हैं, अत्याचारी हैं या गुंडे हैं;

वे आए दिन समाज पर अपनी धाक जमाए रहते हैं; समाज को नाकों चने चबाते रहते हैं। सरकारी अधिकारी और कर्मचारी भी हजारों रुपये गबन कर लेते हैं, भ्रष्टाचार और रिश्वत में गले तक डूबे रहते हैं। स्वयं सरकार भी कई दफा ऐसे अनिष्ट, असामाजिक और अराजक तत्त्वों को पकड़ने और सजा देने में असमर्थ रहती है। इधर लोकसेवकों का यह हाल है कि वे ऐसी परिस्थिति के लिए प्रायः सरकार को जिम्मेवार ठहराते हैं और सरकार की खरी-खोटी आलोचना करके रह जाते हैं। सरकार पर जनता और स्वयं (जनसेवकों) का नैतिक अंकुश रखने-रखाने और उसकी शुद्धि करने के अपने स्पष्ट उत्तरदायित्व से भाग कर शासनमुक्त, शोषणमुक्त समाजरचना या लोकशक्ति जागृत करने की हवाई कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाते रहते हैं। और साधुसंस्था तो इतनी निष्क्रिय, उदासीन और उपेक्षासेवी बन बैठी है कि उसे अपने साम्प्रदायिक दायरे से बाहर विशाल मानवसमाज की ओर झांकने, उसकी समस्याएँ हल करने, परिस्थितिपरिवर्तन करने; तथा सारे समाज एवं समाज के एक विशिष्ट अंग राज्यसंस्था पर नैतिक अंकुश रखने-रखाने और उसकी शुद्धि करने-कराने का अवकाश ही कहाँ है? अधिकांश साधुवर्ग प्रायः निवृत्ति और आत्मार्थ (स्वार्थ) का बहाना बना कर, अकर्मण्य बनकर एवं सामाजिक-राजनैतिक अनिष्टों के निवारण के प्रति आंखें मूंद कर उपेक्षा धारण किये बैठा है। वह केवल व्याख्यान देकर या कुछ क्रियाकाण्ड कर-करा कर धर्मपालन करने का मिथ्यासंतोष मान बैठा है। मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज धर्म का ह्रास एवं अधर्म की वृद्धि हो रही है, साधुवर्ग भी प्रायः अनीतिमान धनिकों और सत्ताधारियों के प्रभाव के नीचे प्रायः दबा हुआ है। साधुसंस्था पर भी तथाकथित अधर्माचारी और आडम्बरधारी हावी हो बैठे हैं; इस ओर अधिकांश साधुवर्ग का ध्यान नहीं जाता।

मोटे तौर पर देखा जाय तो इस विशाल मानवसमाज में १० प्रतिशत साधुपुरुष और सज्जनपुरुष हैं, वे पूर्वोक्तरीति से समाज के अनिष्टों और अनिष्टकारकों के प्रति उपेक्षा किये बैठे हैं। वे कभी-कभी समाज की या सरकार की खरीखोटी आलोचना कर देते हैं, पर इससे समाज के उद्दण्डतत्त्वों, अराजकों, दुष्टों, अन्याय-अत्याचारकर्ताओं, भ्रष्ट शासनकर्ताओं या राज्यकर्मचारियों के कान पर जूं भी नहीं रेंगती। वे साधुपुरुषों के सामने जब-तब खूब भक्तिभाव दिखायेंगे, उनकी तारीफ भी कर देंगे, उनके द्वारा प्रेरित किसी संस्था में, या उनके किसी कार्य में नामवरी के लिए कुछ धनराशि भी दे देंगे; हाथ जोड़ेंगे; खूब नम्रता दिखायेंगे; परन्तु करेंगे वही, जो पहले से करते आ रहे हैं। अपने जीवन में अधर्माचरण छोड़ने को वे तैयार नहीं होंगे। ऐसे उद्दण्डतत्त्व भी १० प्रतिशत हैं; जो ३० प्रतिशत शासनकर्तावर्ग (सरकार) को भी नहीं गिनते। क्योंकि ५० प्रतिशत आमजनता है; जिसका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं होता। जिधर का पलड़ा—स्वार्थ का पल्ला—भारी हो, उधर ही वह प्रायः झुक जाया करती है। वह साधुपुरुषों द्वारा उपेक्षा के कारण उनकी भी मुट्ठी में नहीं होती। फलतः आमजनता का मैदान खाली देखकर उद्दण्डतत्त्व बाजी मार लेते हैं; वे आमजनता को छल-बल या भय-प्रलोभन आदि बता कर अपने काबू में कर लेते हैं। इस तरह ५० प्रतिशत आमजनता को हाथ में लेकर वे ३० प्रतिशत शासनकर्ता-वर्ग पर भी छा जाते हैं; सरकार से भी मनमाना काम करवा लेते हैं। इस तरह एक प्रकार से सारा समाज ही केवल १० प्रतिशत साधुपुरुषों को छोड़ कर उन अनिष्टकारों, उद्दण्डों और अराजकतत्त्वों की मुट्ठी में हो जाता है।

इस तरह की चहुंमुखी आपाधापी की दशा में सारे समाज पर शुद्ध धर्म के अंकुश की बात समझ में तो आती है, पर उक्त धर्म कौन

ये धर्म का अंकुश मान कर भी अपने आप में हैं, बीच में वे नीति
देश पर निर्भर रहते हैं। लेकिन समग्र समाज का वर्गीकरण करके
सबके लिए एक ढंग अपनाना तो बड़ा कठिन भी होता है। परस्परानुग्रह-
अनुयायी के लिए सर्वप्रथम वर्गीकरण इस प्रकार करना होगा—समग्र
समाज में मोटे तौर पर ५ कोटि के व्यक्ति हैं—(१) तमोगुणप्रधान,
(२) रजोगुणप्रधान, (३) सत्त्वरजोगुणमिश्रित, (४) सत्त्वगुणप्रधान
और (५) गुणातीतलक्षी। समाज में जो तमोगुणप्रधान उद्दण्ड, दुष्ट,
उच्छृंखल, कुमार्गी, स्वार्थपरायण, पापाचरण करने वाले लोग हैं, वे नीति-
धर्म के धार्मिक अंकुश को तो मानते ही नहीं, न जनता के
सामाजिक दबाव को ही मानते हैं, न लोकसेवकों के नैतिक दबाव
से ही और न साधुसन्तों के आध्यात्मिक दबाव से भी मानते हैं।
उन पर अंकुश लाने के लिए रजोगुणप्रधान न्यायनिष्ठ नीतिलक्षी
राज्यसंगठन की दण्डशक्ति के दबाव की अनिवार्य जरूरत रही है,
और रहेगी। परन्तु राज्यसंस्था भी किसी को अनुचित दण्ड देने,
अनुचित कानून बनाने, सत्ता द्वारा अन्यायपूर्वक किसी को कुचलने
और शोषित करने का प्रयत्न करे तो उस पर अंकुश के लिए नीति-
निष्ठ धर्मलक्षी सत्त्वरजोमिश्रित जनसंगठन के सामाजिक दबाव की
जरूरत रहेगी। ऐसे जनसंगठनों पर अंकुश के लिए सत्त्वगुणप्रधान
व्रतबद्ध धर्मनिष्ठ अध्यात्मलक्षी जनसेवकों के नैतिक दबाव की जरूरत
रहेगी। तथा जनसेवकों पर गुणातीतलक्षी अध्यात्मनिष्ठ विश्व-
वात्सल्यलक्षी क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग के आध्यात्मिक दबाव की जरूरत
रहेगी। इसी प्रकार साधुवर्ग पर वैसे तो परोक्षरूप से तीर्थंकर
वीतराग प्रभु या देवगुरु अन्तरात्मा का अंकुश है ही; पर प्रत्यक्षरूप
से सज्जनसमाज का भी अंकुश रहेगा। इस प्रकार अलग-अलग स्तर के
व्यक्तियों पर उत्तरोत्तर पारस्परिक अंकुश रखा जाय तो सारे समाज पर
नीति-धर्म का अंकुश आ सकता है।

के द्वारा उनकी आलोचना हुई और उन्हें प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना पड़ा। यह थी भारतवर्ष की नीतिधर्म की परस्परांकुशप्रणाली। परन्तु बाद में परिस्थितियां बदलीं। परस्पर एक दूसरे का अंकुश छूट गया। ब्राह्मण और साधुसंन्यासी सारे समाज की नैतिक चौकीदारी, शुद्धि और अंकुश के महान दायित्त्व से भागने लगे। फलतः समाज में अव्यवस्था, अराजकता, उद्दण्डता, फूट आदि फैली। और मौका देख कर भारत में विदेशी राज्य ने अपना पैर जमाया। महात्मागाँधीजी ने भारतवर्ष की नब्ज देख कर भारतीयजनों का नीति-धर्म की दृष्टि से विभिन्न स्तर की अपेक्षा से एकीकरण किया और परस्परांकुश-प्रणाली का पुनरुद्धार किया।

परन्तु एक बात ध्यान में रखनी है कि यह परस्परांकुश-प्रणाली केवल नीति-धर्म के व्याख्यानों, उपदेशों, लेखों, प्रेरणाओं या आन्दोलनों आदि द्वारा नहीं लाई जा सकेगी। इसके लिए सर्वोत्तम सफल माध्यम 'धर्ममय समाजरचना का प्रयोग' ही है। वही सर्वश्रेष्ठ शुद्ध, शक्तिशाली और सफल उपाय समग्रसमाज में परस्पर नीति और धर्म का नियंत्रण लाने वाला सिद्ध होगा।

विविध धर्मसंघ ऐसा प्रयोग करने में अक्षम

प्रश्न होता है कि संसार में आज ईसाई, इस्लाम, जैन, बौद्ध, वैदिक, सनातनी, वैष्णव आदि जितने भी धर्मसंघ हैं, या धर्मसंस्थाएँ हैं, वे सब मानवजाति में न्याय, नीति और शुद्ध धर्म को लाने का ही प्रयोग कर रही हैं तब इस नये धर्ममय समाजरचना के प्रयोग की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

यह सच है कि प्रत्येक धर्मसंघ या धर्मसंस्था का उद्देश्य शुद्ध धर्म को उसके अंगोपांगों सहित शुद्ध और व्यापक रूप में समग्र मानव-समाज में फैलाकर समग्रसमाजव्यापी का था। यों तो प्रायः

प्रत्येक मानव किसी न किसी धर्मसम्प्रदाय में जन्म लेता है। जन्म लेते ही उस पर किसी न किसी धर्म का लेबल चिपका दिया जाता है। मातापिता द्वारा अपनाये गये किसी एक धर्मसम्प्रदाय के क्रियाकांडों, अमुक विधिविधानों और मान्यताओं के संस्कार बालक की संतति में कूट-कूट कर भरे जाते हैं। इसी कारण प्रायः सभी धर्मसम्प्रदाय एकांगी, एकक्षेत्रस्पर्शी और अपने-अपने संकीर्ण दायरे में बन्द हो गए हैं। प्रायः सभी में गतानुगतिक, गुणनाशक, विकासावरोधक, निष्प्राण अनेक क्रियाकाण्डों का जमघट लगा हुआ है। जीवनव्यवहार से शुद्ध धर्म के विविध अंगों का सम्बन्ध इन सब में टूट-सा गया है। वर्तमानयुग में सभी धर्मसंस्थाएँ तेलशून्य दीवट की तरह बन गई है। उनमें अपनी-अपनी दीवट को ऊँची, बहुमूल्य और प्राचीन सिद्ध करने की होड़ लगी है। किन्तु उसमें दिया जल रहा है या नहीं? तेल है या नहीं? दीवट द्वारा प्रकाश मिल रहा है या नहीं? इसकी चिन्ता नहीं रही। फलतः जो संस्थाएँ प्रेम, मैत्री के सूत्र से समग्र जनता को एकसूत्र में बांधने की प्रतीक थीं; मानवकल्याणकारी उद्देश्य लेकर चली थीं, वे ही आज पारस्परिक विद्वेष, अशान्ति, धार्मिक कट्टरता, धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता और सिरफुटौव्वल का कारण बन गईं। वे दूसरे के धर्मसम्प्रदाय को नीचा, झूठा और नया एवं अपने धर्मसम्प्रदाय को ऊंचा, सच्चा और पुराना बता कर अपने-अपने अहं का पोषण करती हैं। इसलिए वर्तमान संघबद्ध धर्म से सामान्य मानव तो उसमें के शुद्ध धर्मतत्त्वों को अपनाने और कल्याण करने के बदले, भावहिंसा, असत्यादिरूप अधर्म का आश्रय लेकर अपना अकल्याण ही अधिक कर बैठता है। मध्ययुग का विविध धर्मों का इतिहास तो इतना घिनौना है कि धर्म के नाम से अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार, रक्तपात, मारकाट, ठगी, भय और प्रलोभन का बाजार गर्म देख कर कोई भी यह अपेक्षा नहीं कर सकता कि इसी रूप में रह कर

प्रत्येक मानव किसी न किसी धर्मसम्प्रदाय को पकड़े हुए है। जन्म लेते ही उस पर किसी न किसी धर्म का लेबल चिपका दिया जाता है। मातापिता द्वारा अपनाये गये किसी एक धर्मसम्प्रदाय के क्रियाकाण्डों, अमुक विधिविधानों और साधनों के संस्कार अपनी संतति में कूट-कूट कर भरे जाते हैं। इसी कारण प्रायः सभी धर्मसम्प्रदाय एकांगी, एकक्षेत्रस्पर्शी और अपने-अपने संकीर्ण दायरे में बन्द हो गए हैं। प्रायः सभी में गतानुगतिक, युगबाह्य, विकासावरोधक, निष्प्राण अनेक क्रियाकाण्डों का जमघट लगा हुआ है। जीवनव्यवहार से शुद्ध धर्म के विविध अंगों का सम्बन्ध इन सब में तोड़-सा रखा है। वर्तमानयुग में सभी धर्मसंस्थाएँ तेलशून्य दीवट की तरह बन गई हैं। उनमें अपनी-अपनी दीवट को ऊँची, बहुमूल्य और प्राचीन सिद्ध करने की होड़ लगी है। किन्तु उसमें दिया जल रहा है या नहीं? तेल है या नहीं? दीवट द्वारा प्रकाश मिल रहा है या नहीं? इसकी चिन्ता नहीं रही। फलतः जो संस्थाएँ प्रेम, मैत्री के सूत्र से समग्र जनता को एकसूत्र में बांधने की प्रतीक थीं; मानवकल्याणकारी उद्देश्य लेकर चली थीं, वे ही आज पारस्परिक विद्वेष, अशान्ति, धार्मिक कट्टरता, धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता और सिरफुटौव्वल का कारण बन गईं। वे दूसरे के धर्मसम्प्रदाय को नीचा, झूठा और नया एवं अपने धर्मसम्प्रदाय को ऊंचा, सच्चा और पुराना बता कर अपने-अपने अहं का पोषण करती हैं। इसलिए वर्तमान संघबद्ध धर्म से सामान्य मानव तो उसमें के शुद्ध धर्मतत्त्वों को अपनाने और कल्याण करने के बदले, भावहिंसा, असत्यादिरूप अधर्म का आश्रय लेकर अपना अकल्याण ही अधिक कर बैठता है। मध्ययुग का विविध धर्मों का इतिहास तो इतना घिनौना है कि धर्म के नाम से अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार, रक्तपात, मारकाट, ठगी, भय और प्रलोभन का बाजार गर्म देख कर कोई भी यह अपेक्षा नहीं कर सकता कि इसी रूप में रह कर

ये धर्म वर्तमानयुग के मानव को तारेंगे या उसका कल्याण करेंगे। इसीलिए वर्तमानयुग में विविध धर्म समग्र मानवजाति के लिए वरदानरूप सिद्ध न होने से वे ऐसा प्रयोग करने की क्षमता नहीं रखते।

धर्मगुरुओं में भी प्रायः परस्पर वैमनस्य, तेजोद्वेष और अहंकार की मात्रा बढ़ जाने से वे भी वाड़ाबन्दी में फंस गये। उन्हें अपने धर्म-सम्प्रदाय के बाहर फैले हुए विशाल मानवसमाज और उनकी समस्याओं की ओर झांकने और समग्र-विश्व के सर्वक्षेत्रों पर विचारने का भी अवकाश कहाँ था? फलतः वे अपने ही संकीर्ण दायरे में बन्द होकर सोचने और अपने स्वार्थ एवं धर्म-सम्प्रदाय को प्रधानता देकर दूसरे धर्म-सम्प्रदायों के प्रति अनुदार दृष्टि और असावधानी के कारण धर्मों में विकृति आना स्वाभाविक था।

यही कारण है कि ये धर्मसंघ आज मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों में शुद्ध धर्म को प्रविष्ट कराने, फैलाने और धर्म के रंग से रंगने में प्रायः असमर्थ हैं। साथ ही मानव-जीवन की सभी समस्याओं, उलझनों, सर्वक्षेत्रीय प्रश्नों को शुद्ध नीति और धर्म की दृष्टि से हल करने या समाज के विभिन्न स्तर के लोगों के धर्म-नीति-पालन में आने वाले विघ्नों, अड़चनों और उलझनों का युगानुरूप सही समाधान भी करने में अक्षम हैं। वर्तमान में लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था होने पर भी धर्मसंस्थाओं द्वारा लोकशक्ति जागृत न किये जाने और राज्यशक्ति पर नैतिक अंकुश न रखे-रखाये जाने की हालत में सरकार ने मानवजीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों पर पंजा जमा रखा है। इससे धर्मसंस्थाएं भी न बच सकीं। फलतः जिन धर्मसंस्थाओं को उद्दण्ड-अराजकतत्त्वों, पर अंकुश रखना चाहिये था, सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक-शैक्षणिक क्षेत्र क्रमशः जनता और जनसेवकों के हाथ में सौंपवाना चाहिए था, उसमें

वे सर्वथा असफल रही हैं। कुछ धर्मसंस्थाएं तो कोमवादी राजनैतिक पक्षों का हथा बन गई हैं। ये तो जनता में शुद्ध धर्म और नीति-न्याय तथा भारतीय संस्कृति के तत्त्व-सत्त्वों को प्रविष्ट कराने के बजाय कोमवाद, धार्मिक कट्टरता, सम्प्रदायवाद, जातिवाद की ओर ले जाने का पाप कर रही हैं। इसलिए अगर ये धर्मसंघ भारत की प्राचीन शुद्ध धर्ममय समाजव्यवस्थाप्रणाली के अनुसार चलते तो आज उसमें पुराना सत्त्व रख कर युगानुरूप परिवर्तन करके समग्र मानवसमाज को सर्व-धर्म-समन्वय की दृष्टि रखकर शुद्ध धर्म से ओत-प्रोत कर सकती थीं; पर आज यह बात नहीं रही। आज ये धर्मसंघ भी अनेक टुकड़ों में बंट गये हैं, और इन्होंने मानवसमाज को भी विभिन्न टुकड़ों में बांट दिया है। यद्यपि समग्र मानवसमाज को जोड़ने और उनके विरोधों, वादों, धर्मों और दर्शनों का समन्वय करने और सापेक्ष दृष्टि से उनमें निहित सत्य को ग्रहण करने का अनेकान्तसिद्धान्तमंत्र भ० महावीर ने दिया था, किन्तु दुर्भाग्य से वह भी दार्शनिक चर्चाओं और अधिक से अधिक जैनधर्म तक ही सीमित रहा।

प्रयोग की विशेषता और क्षमता

यह तो धर्ममय समाजरचना के प्रयोग में ही क्षमता है कि यह समग्र समाज में धर्म और नीति का परस्परांकुश ही नहीं; अपितु मानवजीवन के सभी क्षेत्रों तथा समग्रसमाज के विभिन्न स्तर की सुसंस्थाओं व व्यक्तियों में वर्तमानयुग के प्रकाश में शुद्ध धर्म को सभी अंगोपांगो में प्रविष्ट करायेगा। जिससे सारे समाज को उसके विभिन्न स्तरों और भूमिकाओं को दृष्टिगत रखते हुए न्याय-नीति-धर्म-अध्यात्मलक्षी संगठनों में आबद्ध किया जा सकेगा। सारे समाज का एकीकरण हो सकेगा। सारा समाज नीति और धर्म के नैसर्गिक धर्म-बन्धन से ध्येय के अनुरूप अनुबद्ध होगा। समग्रसमाज में पैदा

होने वाले अन्याय, अत्याचार, अनाचार, अधर्म आदि अनिष्टों, बुराइयों, दुर्गुणों व अनिष्टकर्ताओं पर पूर्वोक्त परस्परांकुशप्रणालीविहित क्रमशः आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दबाव द्वारा सारे समाज का शुद्धीकरण हो सकेगा। समग्र समाज की विविध समस्याओं, उलझनों, एवं अटपटे प्रश्नों एवं झगड़ों का नीतिधर्म की दृष्टि से हल हो सकेगा, समाधान एवं निपटारा हो सकेगा। समाज में प्रविष्ट अनिष्टों और तज्जनित समूहव्यापी विविध दुःखों—स्वकृत, परप्राणीकृत और प्रकृतिकृत दुःखों (कर्मोदयजनित कष्टमूलक फलों) को रोकने, कम करने और मिटाने की और समाज में गुणवत्ता तथा नीति-धर्म के संस्कार विभिन्न भूमिका के संगठनों को यथायोग्य तालीम (प्रशिक्षण) और अभ्यास द्वारा देकर धर्मदृष्टि से समग्रसमाज का सर्वांगीण निर्माण करने की क्षमता इस प्रयोग में है ही। साथ ही समाज को सस्ता, शुद्ध और अविलम्ब न्याय दिलाने एवं पुराने गलत मूल्यों को बदल कर नये शुद्ध मूल्यों की स्थापना करने की शक्ति भी इस प्रयोग में निहित है। इस प्रयोग में मानवजीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक धार्मिक, आध्यात्मिक आदि किसी भी क्षेत्र को छोड़ा नहीं जाता। इन सभी क्षेत्रों की समस्याओं का समुचित हल ढूंढ कर उनमें परस्पर समन्वय और सामञ्जस्य बिठाया जाता है। साथ ही वर्तमान लोकतंत्र को लोकलक्षी एवं जनता को धर्मलक्षी बनाने एवं भारतीय शुद्ध लोकतंत्र को विश्वराष्ट्रव्यापी बनाने की योग्यता भी प्रयोग में है। यह प्रयोग विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में बंटे हुए और रागद्वेष में फंसे हुए मानवसमाज को सर्व-धर्म-उपासना के मन्त्र द्वारा प्रेमभाव में बांधता है और धर्मान्धता और धार्मिक कट्टरता को दूर कर धर्मसहिष्णुता एवं एक दूसरे के धर्मों के प्रति आदरभाव रखना सिखाता है। समस्त धर्मसंस्थापकों, धर्मवीरों, सम्प्रदाय प्रवर्तकों एवं दर्शन-प्रवर्तकों के प्रति आदरभाव,

कृतज्ञता और आत्मीयता सिखाता है। इस प्रकार उस-उस धर्म-सम्प्रदाय के व्यक्ति को अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय की दृष्टि से धर्म-नीति-प्रेरणा भी यह प्रयोग देता है। इस दृष्टि से सारे समाज पर नैतिक-धार्मिक पहरेदारी, प्रेरणा और मार्गदर्शन द्वारा उसका सुन्दर निर्माण करना, प्रयोग की खास विशेषता है। इसीलिए इस प्रयोग में भारत की प्राचीन समाजव्यवस्था (वर्णाश्रमप्रणाली) का आधार-सूत्र लेकर नई समाज-व्यवस्था को अपनाने से सातत्यरक्षा और परिवर्तनशीलता दोनों समाविष्ट हैं।

जब तक मनुष्य अपूर्ण है, अनेक भूलों से भरा है, बार-बार गलतियाँ कर बैठता है, पुनः पुनः दोषों और अपराधों से घिर जाता है और नई-नई उलझनें और समस्याएँ खड़ी कर बैठता है; तब तक इस प्रयोग की जरूरत रहेगी ही। जो मनुष्य मुक्त (सर्वदुःखमुक्त) हो जायगा, उसके लिए तो प्रयोग करने की जरूरत ही नहीं रह जायगी। इसीलिए तो अपूर्ण मानव-समाज के लिए यह प्रयोग बहुत उपयोगी है।

प्रयोग की नींव किसने डाली ?

यद्यपि प्राचीन धर्मसंघों की स्थापना इसी उद्देश्य को लेकर हुई थी कि वे मानवसमाज में शुद्ध धर्म और नीति का प्रवेश करायें और [illegible] बनायें, किन्तु पूर्वोक्त कारणों से वे संकुचित हो कर [illegible] समाज में [illegible] का रोग मिटने के बजाय बढ़ता ही गया; [illegible] के कारण छुआछूत, भेदभाव आदि नई बीमा-[illegible] में फैल गईं। भारत में विदेशी शासन उसकी इन [illegible] था। सम्प्रदायवाद, जातिवाद, संकुचित स्वार्थ, [illegible] आदि के कारण भारत की समाजव्यवस्था छिन्नभिन्न, [illegible] हो गई थी। ऐसे समय में महात्मा गांधीजी

आए। उन्होंने भारत की परतन्त्रतायुक्त परिस्थिति देखी, उन्होंने भारत की धर्मनीति, समाजनीति, अर्थनीति, शिक्षानीति एवं राजनीति का भी गहराई से अध्ययन किया। उन्हें इन सबका ढांचा भारतीय संस्कृति और भारतीय समाज-व्यवस्था की परिपाटी के अनुरूप नहीं जचा। उन्होंने इस सारे ढांचे का कायापलट करने का सोचा। अफ्रीका में वे भारतीयों का संगठन करके उन पर ब्रिटिश सरकार की रंगभेद, दमन और अन्यायपूर्ण काले कानून लागू करने की गलत नीति के खिलाफ अहिंसक सत्याग्रह एवं फिनिक्स आश्रम में स्वावलम्बी सर्वोदयी समाज के प्रयोग का अनुभव करके लौटे थे। इसलिए उन्होंने यहाँ आकर भी एक तरफ ब्रिटिश सरकार के खिलाफ अहिंसक लड़ाई के लिए काँग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) को सत्य-अहिंसा का सिंचन करके तैयार की; दूसरी ओर मजूरमहाजन, गोसेवासंघ, हरिजनसेवकसंघ आदि जनसंस्थाएँ खड़ी कीं और देश की महाजन-संस्था को नया रूप दिया, तीसरी ओर आश्रम में उन्होंने व्रतबद्ध रचनात्मक कार्यकर्ताओं (लोकसेवकों) की संस्थाएँ धर्मदृष्टि से रचीं, जिनमें चर्खासंघ, नई तालीमसंघ आदि का समावेश होता है। कांग्रेस और जनसंस्थाओं पर जनसेवकों की संस्थाओं का नैतिक अंकुश रखा। इन सभी संस्थाओं का एक दूसरे से अनुबन्ध रखा। स्वयं इन सभी संस्थाओं को नैतिक-धार्मिक प्रेरणा और मार्गदर्शन देते रहते थे, नैतिक चौकसी रखते थे, ताकि कोई भी अनिष्ट न घुसने पाए। अगर किसी में कोई अनिष्ट घुसता देखते या घुस जाता तो स्वयं उसकी शुद्धि का काम करते। मतलब यह कि एक अध्यात्मनिष्ठ साधु का काय वे स्वयं करते। इसा प्रकार शुद्ध धर्म के सत्य, अहिंसा आदि ११ अंगोपांगों का युगानुरूप आचरण कर और करवाकर तथा शुद्ध धर्म को सर्वधर्मसमभाव का मंत्र लेकर, प्राथना, संस्थारचना, और आचार के माध्यम से समग्र समाजव्यापी बनाया। उन्होंने इस प्रयोग को अहिं-

क्यों रखा जाय? 'अहिंसक' शब्द या 'कर्तव्य' शब्द उसके बदले रख दिया जाय तो क्या हर्ज है?

बात ठीक है। मनुष्य प्रायः संघर्ष से बचना चाहता है। कई बार वह संघर्ष से बचने के लिए सिद्धान्त, वास्तविकता या आदर्श को और कभी-कभी जिम्मेवारी को छोड़ कर भी समझौते का सरल मार्ग अपना लेता है। परन्तु दूरदर्शिता से नहीं सोचता और न ही इस देश और समाज की खासियत पर ही विचारता है।

भारतवर्ष की प्राचीन समाजव्यवस्था पर दृष्टिपात किया जाय तो उसमें जीवन के प्रत्येक मोड़ पर, जीवन की छोटी-बड़ी हर प्रवृत्ति के पीछे धर्म का पुट दिया गया मालूम होगा। चाहे हम भारतीय समाज की किसी भी ईकाई—कुटुम्ब, कुल, जाति, गाँव, समाज या राष्ट्र, (रा.य. संगठन)—को ले लें; सभी के साथ धर्म ओत-प्रोत मिलेगा, सभी में धर्म अनुप्राणित मिलेगा; समाज के रग-रग में और हड्डियों तथा रक्त में धर्म के संस्कार कूट-कूट कर भरे हुए मिलेंगे। भारतवर्ष की यह खासियत है कि यहाँ खाने, पीने, सोने, उठने, व्यापार करने, नौकरी करने, शासन ग्रहण करने, विवाह करने, भ्रमण करने, विचार करने, कुटुम्बपालन करने आदि हर एक कार्य या प्रवृत्ति के साथ यह प्रश्न जुड़ा हुआ है कि यह प्रवृत्ति धर्मयुक्त है या नहीं? अगर कोई प्रवृत्ति धर्मसंयुक्त नहीं होती है तो वह भारतीय समाजव्यवस्था में ग्राह्य नहीं मानी गई है, उसे उपादेय नहीं समझा गया है। जबकि पाश्चात्य देशों में प्रायः भौतिकस्वार्थ, इन्द्रियसुख या कभी-कभी कर्तव्य की तुला पर हर प्रवृत्ति तोली जाती है। इसलिए कर्तव्य का दायरा धर्म की अपेक्षा बहुत ही संकुचित है। कर्त्तव्य में न्याय-नीति का समावेश कदाचित् हो जाय तो भी निःस्वार्थ भाव से किसी दूसरे मानव या प्राणी के लिए, समाज या राष्ट्र के लिए त्याग, बलिदान की

तुझे महल दिया है; खानपान और ऐशोआराम की सुविधाएँ दी हैं। फिर तू क्यों फिजूल की माथापच्ची करता है।" परन्तु विभीषण 'कर्त्तव्य' की अपेक्षा भी 'धर्म' को ही अपनाता है और उस पर दृढ़ रहता है। वह लात खाकर भी रावण से कहता है—"सच्चा सम्बन्ध केवल रक्त का ही नहीं होता, अपितु न्याय, सत्य का सम्बन्ध ही वास्तविक सम्बन्ध है। आपने जो काम किया है, वह धर्मविरुद्ध है। मैं आपके इस अधर्मकार्य का समर्थन नहीं कर सकता।" परन्तु अभिमानी रावण ने विभीषण की एक न सुनी। अन्ततः विभीषण को लंका एवं सभी सुख-सुविधाएँ छोड़ कर धर्म के लिए राम के पास चले जाना पड़ा। यह है कर्तव्य की अपेक्षा 'धर्म' का व्यापक क्षेत्र। कर्तव्य कई दफा कुटुम्ब, राज्य या राष्ट्र की सीमा में बन्ध जाता है, जिससे केवल उस कुटुम्ब, राज्य, या राष्ट्र के प्रति फर्ज अदा करने तक ही सीमित हो जाता है, जबकि धर्म इन सीमाओं से ऊपर उठ कर जहाँ सत्य, न्याय दिखता है, वहाँ उनकी प्रतिष्ठा करने और अन्याय-असत्य का प्रतीकार करके उनकी अप्रतिष्ठा करने की प्रेरणा और प्रोत्साहन देता है।

'धर्म' के बदले 'कर्तव्य' शब्द रखने से एक और खतरा यह है कि जिन राष्ट्रों में भारत की तरह समाजव्यवस्था और राज्य को भी समाज का एक अंग मान कर उस पर जनता और जनसेवकों के सामाजिक नैतिक अंकुश की बात नहीं मानी गई है, केवल राज्य द्वारा ही समग्र समाज संचालित होता है, वहाँ राष्ट्रकर्तव्य और अन्तः-स्फुरित व्यापक शुद्ध धर्म इन दोनों में विरोध पैदा होगा, तब शुद्ध धर्म को छोड़ कर राष्ट्रकर्तव्य का पालन करना लाजिम हो जायगा। मतलब यह है कि शासनकर्तावर्ग के अंकुश के नीचे नीतिनिष्ठ जनता धर्मनिष्ठ जनसेवक और अध्यात्मनिष्ठ साधुस

को मानते हैं। इसलिए इस प्रयोग में 'धर्म' को सर्वप्रथम रखने और सर्वधर्म-उपासना नामक एक उपव्रत का इस प्रयोग की प्रार्थना उच्चारण किये जाने तथा समय-समय पर उसका सक्रिय आचरण ये जाने से सभी धर्मों (संघबद्ध धर्मों) वालों को यह प्रयोग आत्मीय ोगा। इससे यह फायदा होगा कि किसी भी धर्म (विशिष्ट धर्म-य) का व्यक्ति अगर शुद्ध नीति-धर्म-विरुद्ध चलता होगा या बुरे र्ग पर जाता होगा तो उसे उसके धर्म, धर्मसंस्थापक और धर्मवीरों तथा धर्मशास्त्रों के सन्देश तथा उस पर उसकी श्रद्धा आदि साधन ार्ग एवं धर्ममार्ग पर ला सकेंगे। अन्य साधन उसके सुधार के ए इतने सफल साबित नहीं होंगे। 'अहिंसा' या 'कर्तव्य' शब्द नी विशाल प्रेरणा, इतने धर्मवीर पुरुषों के स्मरण कराने के साथ ज्ञता व आदर प्रगट करने की उत्स्फुरणा अथवा शुद्ध धर्म पर दृढ़ ने की जागृति प्रदान नहीं कर सकेंगे। साथ ही 'धर्म' शब्द इस प्रयोग आगे जोड़ने से विविध संघबद्ध धर्मों में व धर्मानुगामियों में परस्पर हेष्णुता, समन्वयभावना, निकटता, आत्मीयता और भ्रातृभावना ा होगी और जहाँ कट्टरता, धर्मझनून, धर्मान्धता, अन्धविश्वास, ्म, संघर्ष, द्वेष या कलह होंगे या तथाकथित धर्मजीवियों द्वारा ा कराये जाते होंगे, वहाँ इस प्रयोग से संस्कारित व्यक्ति उन्हें ़ भी सकेंगे, उन्हें धर्म की सही बात समझा कर सत्पथ पर भी ला ंगे। इतनी दीर्घदृष्टि रख कर इस प्रयोग के आगे प्रयोग का स्व 'धर्म' शब्द जोड़ा गया है।

जो लोग अनेक-गुण-सम्पन्न शुद्ध 'धर्म' शब्द को तिलाञ्जलि देकर ा या शासन के हाथों में समाज की सुव्यवस्था सौंप कर समाज सुखशान्ति, अमनचैन या सुखशान्ति के हेतु पूर्वोक्त सद्गुणों को ना चाहते हैं वे अमरीका, ब्रिटेन, रूस या विशेषतः लालचीन के सन से सबक लें और देखें कि वहाँ की जनता अन्दर ही अन्दर

पिघलने वाले न्यायवीर हुसैन का नाम आते ही न्याय पर अटल रहने और अन्याय का प्रतीकार करने की प्रेरणा नहीं मिलती? सामाजिक अनिष्ट को दूर करने के लिए ५ महीने २५ दिन तक निराहार रह कर अभिग्रह करने वाले दीर्घतपस्वी तीर्थंकर महावीर का नाम लेते ही क्या सामाजिक या वैयक्तिक शुद्धि के लिए तपस्या एवं कष्ट-सहन की प्रेरणा नहीं मिलती? क्या कर्मयोगी श्रीकृष्ण का नाम लेते ही जीवन के सभी पुरुषार्थों में अनासक्त रह कर कर्म करने की उत्स्फुरणा नहीं आती? हज़रत मुहम्मद साहब का नाम क्या हममें संकट के समय ईमान, नेकी और ईश्वर पर अटल श्रद्धा की भावना नहीं जगाता? क्या भगवान राम का नाम संकट या प्रलोभन के समय भी न्याय, नीति, निर्भयता और कर्त्तव्य-पालन की सीख नहीं देता? महात्मा [illegible] का नाम क्या मन-वचन-काया की पवित्रता हृदय में नहीं जगा देता? भ० बुद्ध का स्मरण क्या संसार के दुःखों को दूर करने की [illegible] और कल्याणमय मध्यममार्ग की प्रेरणा नहीं देता?

[illegible] यह कि 'धर्म' शब्द रखने से उन-उन धर्मसंस्थापकों, धर्म-[illegible] धर्मवीरों के स्मरण से विभिन्न धर्मांगों पर दृढ़ रहने और [illegible] करने की प्रेरणा तो मिलती ही है, साथ-साथ उन-उन धर्म, [illegible] अपने-अपने देश और काल (युग) में लोगों की पात्रता [illegible] कार्यक्षमता आदि देख कर धर्म के किन अंगों पर [illegible] या किस अंग पर [illegible] जोर देना चाहिए [illegible] [illegible] हैं? इसका विश्लेषण करते [illegible] और विभिन्न धर्मों में उस-उस देश के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। समाज में [illegible] [illegible] (संगठन)

धर्म को मानते हैं। इसलिए इस प्रयोग में 'धर्म' को सर्वप्रथम रखने से और सर्वधर्म-उपासना नामक एक उपव्रत का इस प्रयोग की प्रार्थना में उच्चारण किये जाने तथा समय-समय पर उसका सक्रिय आचरण किये जाने से सभी धर्मों (संघवद्ध धर्मों) वालों को यह प्रयोग आत्मीय लगेगा। इससे यह फायदा होगा कि किसी भी धर्म (विशिष्ट धर्म-संघ) का व्यक्ति अगर शुद्ध नीति-धर्म-विरुद्ध चलता होगा या बुरे मार्ग पर जाता होगा तो उसे उसके धर्म, धर्मसंस्थापक और धर्मवीरों के तथा धर्मशास्त्रों के सन्देश तथा उस पर उसकी श्रद्धा आदि साधन सुमार्ग एवं धर्ममार्ग पर ला सकेंगे। अन्य साधन उसके सुधार के लिए इतने सफल साबित नहीं होंगे। 'अहिंसा' या 'कर्तव्य' शब्द इतनी विशाल प्रेरणा, इतने धर्मवीर पुरुषों के स्मरण कराने के साथ कृतज्ञता व आदर प्रगट करने की उत्स्फुरणा अथवा शुद्ध धर्म पर दृढ़ रहने की जागृति प्रदान नहीं कर सकेंगे। साथ ही 'धर्म' शब्द इस प्रयोग के आगे जोड़ने से विविध संघवद्ध धर्मों में व धर्मानुगामियों में परस्पर सहिष्णुता, समन्वयभावना, निकटता, आत्मीयता और भ्रातृभावना पैदा होगी और जहाँ कट्टरता, धर्मझनून, धर्मान्धता, अन्धविश्वास, वहम, संघर्ष, द्वेष या कलह होंगे या तथाकथित धर्मजीवियों द्वारा पैदा कराये जाते होंगे, वहाँ इस प्रयोग से संस्कारित व्यक्ति उन्हें रोक भी सकेंगे, उन्हें धर्म की सही बात समझा कर सत्पथ पर भी ला सकेंगे। इतनी दीर्घदृष्टि रख कर इस प्रयोग के आगे प्रयोग का सर्वस्व 'धर्म' शब्द जोड़ा गया है।

जो लोग अनेक-गुण-सम्पन्न शुद्ध 'धर्म' शब्द को तिलाञ्जलि देकर सत्ता या शासन के हाथों में समाज की सुव्यवस्था सौंप कर समाज में सुखशान्ति, अमनचैन या सुखशान्ति के हेतु पूर्वोक्त सद्गुणों को रखना चाहते हैं वे अमरीका, ब्रिटेन, रूस या विशेषतः लालचीन के शासन से सबक लें और देखें कि वहाँ की जनता अन्दर ही अन्दर

किस प्रकार ऊब गई है ? अधर्म या पापाचरण में प्रवृत्त होने के कारण, उच्छृंखल, असंयमी और निर्मर्याद होने के कारण वह कितने रोगों, दुःखों, अशान्ति व विडम्बनाओं से घिरी हुई है ? कितनी परतंत्र है कि राष्ट्रीयकर्तव्य से ऊपर उठ कर विश्वव्यापी सर्वसम्मत शुद्ध न्याय या सत्य के पक्ष में बोल नहीं सकती ? या शुद्ध अन्तःस्फुरित सत्य या न्याय का आचरण नहीं कर सकती ? यही कारण है अमेरीका आदि कुछ देश अब भौतिक साधनों का अत्यधिक उपभोग करने से तथा मस्तिष्क-विक्षिप्तता व अनिद्रा के रोग की पीड़ा से इतने ऊब गये हैं कि वे अब अध्यात्म की ओर मुड़ने के लिए छटपटा रहे हैं। वे लालायित हैं—शुद्ध आध्यात्मिकता के रसपान के लिए। शुद्ध अध्यात्म या विश्व के सभी आत्माओं को अपने स्वरूप (आत्मस्वरूप) में धारण कराने वाले व्यापक शुद्धधर्म में कोई अन्तर नहीं रह जाता। धर्म ही इन सब रोगों की दवा है, जो विभिन्न रोगों के अनुसार तथा रोगी की प्रकृति, रुचि और शक्ति के अनुसार चिकित्सा करता है। परन्तु जहाँ किसी राष्ट्र के शासन के हाथ में ही समाज के निर्माण का काम सौंपा जाता है, वहाँ समाज (जनता) अपने सिर पर शासन को ही सर्वशक्तिमान के रूप में सवार कर लेती है। और तब शासन यदि भ्रष्ट होजाय, निरंकुश होजाय, अन्यायी और अनीतिमान हो जाय तो उस पर अंकुश रखना, पदच्युत करना जनता या जनसेवकों के हाथ की बात नहीं रहती। कदाचित् ऐसा शासन उद्दण्ड या अराजक तत्त्वों को दबा दे; परन्तु उस शासन की स्थिरता चिरकाल तक रहने में संदेह है। ज्यों ही कोई जबर्दस्त आदमी षड़यन्त्र रच कर शासन हथिया लेगा, त्यों ही पूर्वशासन (वह भले ही अच्छा हो) की धज्जियाँ उड़ जायगी; जनता या सेवक कुछ भी चूंचपड़ नहीं कर सकेंगे। और नया तानाशाही शासन या सैनिकशासन भी अच्छा हो, इसकी गारंटी नहीं है। इस प्रकार समाज में मानसिक अशान्ति, अव्यवस्था,

जो निरंकुश शासन के कारण हुआ करती है, होगी। इससे बेहतर यही है भारत की समाजव्यवस्था-प्रणाली की तरह शासन को समाज का एक अंग मानकर उस पर जनता, जनसेवक और साधुवर्ग का सामाजिक, नैतिक और धार्मिक अंकुश रहे। और ऐसी व्यवस्था समाज को 'धर्ममय' बनाने से ही होगी।

लोकतंत्रीय शासन में जनता (लोक) की आवाज मुख्य होनी चाहिये और जनता भी योग्य, दृष्टिसम्पन्न एवं धर्मनिष्ठ या धर्मलक्षी बननी चाहिए, तभी वह शासन पर योग्यरूप से नैतिक-सामाजिक अंकुश रख सकेगी। और जनता को धर्मलक्षी या धर्मनिष्ठ बनाना हो तो उसके लिए समाजरचना का प्रयोग भी धर्ममय होना चाहिये। अगर अर्थमय, काममय या सत्तामय समाजरचना का प्रयोग होगा तो अर्थ की प्रधानता, काम-भोगविलासिता की मुख्यता, या सत्ता की दौड़ समाज में हो जायगी; जैसा कि आज भी भारत में इसके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आज हमारी समाजरचना एक तरह से कहें तो अर्थप्रधान (सत्ता भी उसका एक अंश है) बन गई है। किसी का किसी पर अंकुश नहीं रहा। समाजव्यवस्था में प्रत्येक स्तर के व्यक्तियों के जो जो धर्म नियत थे या महात्मागाँधीजी ने नियत किये थे, आज उन-उन धर्मों से वे च्युत हो रहे हैं। समाज में एक प्रकार से धर्म की जड़ें हिल-सी गई हैं। फिर भी अभी भारत के गाँव कुछ अंशों में इस बुराई से बचे हैं। इसलिए अब समय रहते धर्ममय समाजरचना का प्रयोग तीव्रगति से शुरू करना जरूरी है।

समाजरचना क्यों ?

'समाजरचना' शब्द राष्ट्ररचना शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक है। समाज में तो कुटुम्ब, जाति, विविध धर्मसंघ, ग्राम, नगर, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र की मानव-इकाइयों का समावेश हो जाता है

कठिन होने से सर्वसाधारण के लिए मनुष्य-समाज को उस अव्यक्त परब्रह्म का विशाल एवं विराट व्यक्तरूप समझना या अनुभूति करना सरल हो जाता है। और प्रत्येक मनुष्य को उसी विराट् मानवसमाज रूपी व्यक्त ईश्वर का घटकावयव समझना भी शास्त्रदृष्टि से इष्ट है। इस दृष्टि से हम विराट् मानवसमाज को ईश्वर-प्रतिमा मानते हैं और समझते हैं कि वही चैतन्य-ज्योति समाज के सभी अंगों–मनुष्यसंस्थाओं या मानवमात्र में जल रही है, जो कभी बुझती नहीं। ज्योति समान होते हुए भी सबका प्रकाश समानरूप से नहीं फैलता, इसका कारण यह है कि चित्तरूपी लालटेन पर जो कांच लगा है उस पर वासना या मोहादि कर्मों की मलिनता छाई हुई है, जिससे अन्तर की ज्योति का प्रकाश बाहर नहीं फैलता। यहाँ समाजरचना द्वारा शुद्ध धर्म की ज्योति समग्रसमाज में डाली जायगी या ज्योति को जलाई जायगी, जिससे किसी के भी चित्तरूपी लालटेन के कांच पर वासना, अज्ञान, अश्रद्धा, अकर्मण्यता, अकुशलता, या अक्षमता का पर्दा पड़ा होगा तो वह प्रयोग द्वारा दूर किया जायगा। इस प्रकार समाजरचना ज्योति है तो प्रयोग उसके प्रकाश को अभिव्यक्त करने का साधन है। दोनों की आवश्यकता है।

मनुष्यसमाज को जब हमने ईश्वर-प्रतिम मान लिया तब वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए पूज्य और सुसेव्य हो जाता है। समाजेश्वर के सभी अंग-उपांग समान हैं। उनमें ऊँच-नीच की भेदकल्पना न करते हुए सभी की समानरूप से और शक्ति, तत्परता व संवेदना से सेवा करने की जरूरत है। इस प्रकार समाज में प्रविष्ट अनिष्टों का प्रक्षालन करके और इष्ट सद्गुणरूप आभूषणों को चढ़ा कर समाज की सभी इन्द्रियां और मन का सर्वांगीण विकास करना, यानी समाज की इस प्रकार की रचना करना ही वास्तविक समाजपूजा है, ... भाव से ही की जाती है। इस पूजा के सम्पन्न

र के लिए जिन-जिन उत्तम प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है,
प्रयोग है।

'प्रयोग' के पूर्व जो धर्म शब्द प्रयुक्त किया गया है, वह इसलिए
जहाँ व्यक्ति और समाज के स्वार्थ टकराएँ, व्यक्ति का अपना हित
ण होता हो, समाज का मुख्य; या व्यक्ति का स्वार्थ समाजहित की
मा का अतिक्रमण कर रहा हो, समाज के किसी घटक का स्वार्थ
क्ति द्वारा उल्लंघित हो रहा हो या व्यक्ति का आवश्यक और अधि-
रलभ्य स्वार्थ भी समाज या संस्था द्वारा कुचला जा रहा हो तब उस
। संतुलन रखने वाला, दोनों के हित को न्याय की तुला पर तौलने
ला 'धर्म' होगा। धर्म का मंत्र होगा—"समाजदेवो भव" या
समाजाय इदं स्वाहा" यानी अपने तुच्छ स्वार्थ को समाजेश्वर के
चरणों में अर्पण करके, समाज को देव—परमाराध्य देव—मान कर
अपनी भोग्य सामग्री में से यत्किञ्चित् 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' का त्याग
करो, और कुछ नहीं तो मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, चित्त
की श्रमशक्ति, धनशक्ति, बौद्धिकशक्ति या सत्ताशक्ति आदि साधनों
द्वारा समाजेश्वर की सेवा करो; अथवा नैतिक-आध्यात्मिकशक्ति द्वारा
सारा जीवनसर्वस्व समाजेश्वर की सेवा में लगा दो और उसके द्वारा
प्रसाद के रूप में प्राप्त में ही यथालाभसंतोष मान कर शुद्ध जीवन-
यापन करो।" यह है समाजेश्वर की सेवा-भक्ति का रहस्य; जो इस
'प्रयोग' के पूर्व प्रयुक्त 'धर्म' शब्द द्वारा सूचित होता है।

तीर्थंकरों ने 'णमो तित्थस्स' या 'संघं गुणायरं वंदे' कह कर या
अवतारों, पैगम्बरों, या मसीहों ने इसी प्रकार समग्र समाज को
भगवत्स्वरूप या ईशावास्य मान कर सारे समाज की सेवा-पूजा या
भक्ति पूर्वोक्त प्रकार से समग्र समाज का निर्माण करके की थी, तभी
वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त या परमात्मा बन सके। उन अवतारों, तीर्थंकरों,

काफी धन का प्रलोभन दें तो क्या वे सब कबूल करेंगे ? नहीं, कदापि नहीं। जीवनशास्त्रप्रेरित जीवन जीने वाले संकट के समय भी अनीति-अधर्म की राह पर चलने और धन कमाने को तैयार न होंगे। परन्तु अर्थशास्त्रप्रेरित जीवनवाला शायद यही सोचे, और कहे कि पैसे के प्रलोभन के आगे कुछ नहीं टिक सकता। धन के प्रलोभन को देख कर तो बड़ों-बड़ों का मन चलायमान हो जाता है। पैसे के आगे समाजप्रेम, मानवता या भाईचारा दुम दबा कर भाग जाते हैं। परन्तु भारतीय समाज में 'अर्थो हि नः केवलम्' कहने और मानने वाले भी सामाजिक-नैतिक-दबाव से सीधे रास्ते पर आ जाते हैं। मतलब यह है कि अर्थशास्त्रप्रेरित जीवन जीना चाहने वालों पर इस 'प्रयोग' में प्रयुक्त 'धर्म' के मंत्र का अंकुश आएगा या धर्ममंत्र से अभिषिक्त संस्था या व्यक्तियों के जीवनशास्त्रप्रेरित जीवन जीने से, बाकी के नगण्य लोगों पर भी उनका सामाजिक और नैतिक दबाव आएगा। और 'धर्म' मंत्र में 'दबाव' के साथ 'मनाव' भी है। यानी समझाने की भी योजना है और सामाजिक-नैतिक-दबाव की भी। इस प्रकार यह 'धर्म' मंत्र समग्र समाज को मन के दुःखों के कारणों पर एकाग्र करके उसे उन दुःखों के कारणों से बचाता है। परन्तु व्यक्ति अकेला हो और उसमें वंशपरम्परागत धर्म के संस्कार भी भरे हों तो भी वह परिस्थिति के आगे टिक नहीं सकता और न समाज में उत्पन्न समस्याओं को नीति-धर्म-दृष्टि से हल कर सकता है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी एक जगह लिखते हैं कि 'हिन्दुस्तान का एक ब्राह्मणपुत्र बर्मा में गया। वहां पहले उसने लकड़ी के एक पीठ में नौकरी कर ली। कुछ दिनों बाद पुरोहित बन गया। उसके बाद धर्मपरिवर्तन करके मुस्लिम कसाई बन गया। इसलिए ऐसा लगता है कि वंशपरम्परागत संस्कारों के प्रभाव की अपेक्षा सामाजिक वातावरण

का प्रभाव प्रबल होता है।' यही कारण है कि केवल (धर्म) मंत्र से काम नहीं चलता, सामाजिक वातावरण या परिस्थिति को बदलने के लिए तंत्र भी चाहिए और वह है 'समाजरचना' जिस प्रकार मनुष्य के शरीर की रचना (जो कि जीवसृष्टि की सर्वोत्तम विकसित कृति मानी जाती है) में मानवशरीर के विभिन्न अवयव समान नहीं होते, फिर भी वे परस्परानुकूल रहते हैं, अपने-अपने स्थान पर अपनी-अपनी योग्यता, पात्रता और कार्यक्षमता के अनुसार स्वकर्त्तव्य का-अपने विशिष्ट धर्म का निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मानवसमाज की रचना होनी चाहिये। मनुष्यों में विभिन्न गुण, धर्म, स्वभाव, शक्ति एवं योग्यता वाले व्यक्ति होते हैं। इस विश्ववैचित्र्य में उन सबका अपना-अपना स्थान है, अपना-अपना कर्त्तव्य और विशिष्ट धर्म है, उन सबकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। इस वैशिष्ट्य में से सामञ्जस्य का निर्माण करना और उनको अपने-अपने स्तर की संस्थाओं में स्व-स्व-धर्म से अनुबद्ध और संगठित करना ही निसर्गानुकूल और परस्परानुकूल (शरीरावयवों की तरह) समाजरचना है। इसे ही तंत्र कहते हैं।

परन्तु पूर्वोक्त मंत्र और तंत्र के होने पर भी यंत्र न हो तो भी आगे चलकर समाज की गाड़ी अटक जायगी। परिस्थितियों, दुःखों, अनिष्टों तथा समस्याओं आदि से अहिंसकवीर बन कर शुद्धसाधनपूर्वक जूझने के लिये यंत्र की आवश्यकता होगी। वह यंत्र है 'प्रयोग'। यंत्र इसलिए है कि वह समग्र समाज के सभी पुर्जों को व्यवस्थित और मेलजोल से रखता है, संयुक्त करता है, और पूर्व धर्मसंस्थापकों या सम्प्रदाय-प्रवर्तकों ने जैसे अपने-अपने देश, काल, परिस्थिति, पात्रता, शक्ति और रुचि देख कर प्रतीकार्य, अप्रतीकार्य और प्रतिरोध्य दुःखों को मिटाने, कम करने और रोकने के लिए विविध उपाय, योजनाएँ, कार्यक्रम या तरीके अपनाए थे, वैसे ही आज भी प्रयोग समाज के विभिन्न

प्रयोगों के द्वारा विविध दुराग्रहमयादि-निवारण-प्रक्रियाओं द्वारा मानव-मन को तैयार करके परिस्थिति-परिवर्तन या दुर्व्यवस्था-निवारण के लिए सक्षम बना देता है, और विरोध में से सत्कार्य प्रगट करने के लिए मानवशक्ति जागृत कर देने का पुरुषार्थ करता है। मानवधर्म संघ, समाजरचना तंत्र और प्रयोग संघ इन तीनों के द्वारा ही भगीरथ समाजरचना का प्रयोग सर्वांग सफल होता है।

समाजरचना केवल ईंट, चूने और पत्थर आदि इकट्ठे करके मकान बना देने की तरह केवल 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' की कहावत की तरह जैसे-तैसे व्यक्तियों को एक संस्था में एकत्रित कर देने का नाम ही नहीं है। बल्कि पूर्वोक्त कथनानुसार गुणविभिन्नता को नष्ट करके एक सांचे में ढालने से, या विभिन्नताओं के मानवबन्धुओं के नैसर्गिक विकास को मिटा कर एक सांचे में फिट करने से प्रकृति का सौन्दर्य भी नष्ट होता है, सुख भी समाप्त होता है, जीवन-विकास भी रुक हो जाता है। अतः उन सबमें समन्वय, परस्परानुकूलता एवं परस्परनिर्भरता पैदा करना ही समाजरचना है। और इसका प्रयोग तो इस समाजरचना के रूप को और भी निखार देता है।

प्रयोग से समाज का सर्वांगोदय

इस दृष्टि से इस प्रयोग के द्वारा केवल लोकशक्ति ही विकसित या उदित नहीं होती, अपितु राज्यशक्ति, लोकशक्ति, लोकसेवकशक्ति और संतशक्ति इन चारों को अपने-अपने स्थान पर एक दूसरे से अबाधित और अविरोधी होकर विकसित, उदित या प्रस्फुटित होने का अवकाश मिलता है। इतना ही नहीं, उत्तरोत्तर शक्ति का पूर्व-पूर्व शक्ति पर यथायोग्य अंकुश, दबाव और अनुबन्ध होने से इन चारों का यथायोग्य निर्माण भी होता है। साधुसंस्था को भी निष्कांक्ष, नि

संस्था धर्मानुबन्धी उच्च सिद्धान्त व आदर्श वाली होते हुए भी उसमें गंदगी, अनिष्ट, बुराइयाँ प्रविष्ट हो रही हों, तब भी उसकी शुद्धि करने या उसे धर्मपुनीत करने से आँखें मूंदने, उपेक्षा करने की भी इस प्रयोग में गुंजाइश नहीं है। बल्कि समाज की किसी संस्था में अपनी लापरवाही से अन्यायादि अनिष्ट घुस गये हों तो उस संस्था या उसके सदस्यों की अपूर्णता या धर्माचरण की सीमा समझ कर उनके प्रति क्रोध, घृणा या उपेक्षादि न करके उनके दोषों के निवारणार्थ वात्सल्यभाव से पुरुषार्थ करना भी इस प्रयोग का दायित्व होगा।

यह है धर्ममय समाजरचना के प्रयोग का स्पष्ट और सर्वांगीण स्वरूप!

४

प्रयोग का ध्येय, क्रम और प्रयोक्ता

जिस प्रयोग का साध्य या ध्येय जितना ही महान, उच्च, स्पष्ट और व्यवहार्य होता है, वह जनजीवन में उतना ही स्थान पाता है, लोकमान्य बनता है और जनता उससे उतना ही अधिक लाभ उठाती है। प्रस्तुत प्रयोग का ध्येय या साध्य विश्ववात्सल्य है। विश्ववात्सल्य कोई हवाई कल्पना ही नहीं है। इस प्रयोग द्वारा उसको यथायोग्यक्रम से साधना किये जाने पर वह प्राप्त हो सकता है और उसके द्वारा केवल मानवसमाज को ही नहीं, सारे विश्व—अर्थात सृष्टि के जीवमात्र तक को स्पर्श किया जा सकता है। अर्थात् इस प्रयोग द्वारा सारी सृष्टि तक को ध्येयावलम्बी बनाया जा सकता है।

विश्ववात्सल्य का अर्थ

सर्वप्रथम विश्ववात्सल्य शब्द के अर्थ को लें। इसमें दो शब्द हैं—विश्व और वात्सल्य। विश्व का अर्थ है—विश्व की स्थावर जंगम (त्रस) चर या अचर, स्थूल या सूक्ष्म समस्त प्राणीसृष्टि। और वात्सल्य का अर्थ है—शुद्ध प्रेम, निःस्वार्थ आत्मीयता, एकान्त हितैषिता एवं संरक्षण तथा अभयवृत्ति द्वारा विकास, पोषण और निर्माण की मातृत्वभावना। चूंकि वात्सल्य—शब्द वत्स पर से बना है। वत्स कहते हैं—गाय के बछड़े को। बछड़ा बड़ा होने पर गाय (अपनी माता) की किसी प्रकार से सेवा, सहयोग या सहायता नहीं करता। फिर भी गाय (माता) उसे पालती-पोसती और उसकी रक्षा जीजान

से करती है, उसके प्रति शुद्ध प्रेम की ऊर्मियाँ बहाती है; क्योंकि उसे इसमें आनन्द आता है। इसी भावना को वत्सलता कहते हैं। अतः विश्ववात्सल्य का अर्थ हुआ—जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति माता की तरह निःस्वार्थ आत्मीयता रख कर शुद्धप्रेम बहाना।

विश्ववात्सल्य ध्येय मानने का कारण

विश्ववात्सल्य को प्रयोग का ध्येय इसलिए माना गया कि मानव इस विशालसृष्टि में विचार, वाणी और आचरण से सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। बुद्धि में उसकी समता कोई भी प्राणी नहीं कर सकता। वाणी—भावों को स्पष्टरूप से व्यक्त करने के साधन—में भी कोई प्राणी उसकी तुलना नहीं कर सकता। चाहे थोड़े-से ही मानवों ने किया हो, विश्व के समस्त प्राणियों में एकत्व का अनुभव, प्रेम का आचरण और आत्मौपम्य व्यवहार भी मानव के अतिरिक्त किसी भी प्राणी ने नहीं किया है और न कर ही सकता है। इसी कारण मानव के लिए मोक्ष और मुक्ति के द्वार खुले हैं; जिस पर किसी भी अन्य प्राणी का अधिकार नहीं। तब क्या मानव का यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि वह अपने विचार, वाणी और आचरण द्वारा प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता, वत्सलता या एकता साधे? बल्कि विश्व के सर्वोत्कृष्ट प्राणी होने के नाते उसकी जिम्मेवारी हो जाती है कि वह इस दुनिया में आकर केवल अपने पेट, अपने स्वार्थ, अपने कुटुम्ब या सजातीय समाज तक ही सिमट कर न जीए; अपितु सारे विश्व के प्राणियों को सुख देने, उन्हें सुख से जीने देने या जिलाने के अपने उत्तरदायित्व को निबाहता हुआ जीए। हाँ, उसके अपने कुटुम्ब, जाति, राष्ट्र व सजातीय समाज आदि के घेरे हैं, जिनके प्रति भी वह अपने विशिष्ट कर्तव्यों को अदा करेगा; अपने धर्म का पालन [illegible]रेगा। परन्तु समय आने पर वह विश्व के मा[illegible] के लिए

ई; कई दफा, अपना प्राण देकर भी वे मनुष्य की रक्षा करते हैं। अतः प्रत्युपकार के लिहाज से भी मनुष्य को मानवेतर प्राणियों के प्रति वात्सल्य बढ़ाना लाजिमी है। बल्कि इससे भी आगे बढ़ कर पृथ्वी, जल, वनस्पति, अग्नि, हवा पेड़पौधों तथा सांप, बिच्छू, चींटी, मकोड़ों आदि के प्रति भी आत्मीयता—वत्सलता बढ़ानी चाहिए। तभी वह अपने आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ संसार में सुख-शान्ति, समृद्धि और सुव्यवस्था बढ़ा सकता है।

कभी-कभी जब मानव इन प्राणियों के प्रति क्रूरता दिखाता है; यही नहीं; मानव अपने जैसे श्रेष्ठतम प्राणी और सजातीय भ्राता के साथ भी जब पशु से भी बदतर क्रूर और अमानुषिक व्यवहार करता है, अन्याय और जुल्म करता है तब प्रकृति का प्रकोप भी उक्त व्यक्तिगत या सामूहिक दुष्कर्मों के फलस्वरूप बाढ़, भूकम्प, महामारी, दुष्काल या युद्ध आदि के रूप में दृष्टिगोचर होता है; जिसके कारण संसार में, विशेषतः मानवसमाज में भी हाहाकार मच जाता है। इसीलिए महात्मा गाँधीजी ने एक बार कहा था—"यह भूकम्प हमारी अस्पृश्यता (छूआछूत) के पाप का ही फल है।"

महात्मा गाँधीजी समाज-वात्सल्य से ऊपर उठ कर समष्टि-(मानवेतर प्राणीसृष्टि) वात्सल्य तक का सक्रिय आचरण भी करते थे। इसके आचरण के लिए वे उन चीजों पर काफी संयम करते थे। वे दतौन के एक टुकड़े को कई दिन तक चलाते थे। थोड़े-से पानी से हाथ-मुंह व दांत साफ कर लेते थे। एक दिन गाँधीजी ने हाथ मलने के लिए एक भाई से मिट्टी मंगवाई तो वे एक बड़ा ढेला उठा लाए। गाँधीजी ने थोड़ी-सी जरूरत जितनी मिट्टी रख कर बाकी का ढेला जहाँ से वे भाई लाए थे वहीं रखवाया और उपालम्भ दिया कि हमें जिस चीज की जितनी अनिवार्य जरूरत हो, उतनी ही लेनी

चाहिए, और वह भी उपकृतभाव से। एक बार गाँधीजी को नीम के थोड़े-से पत्तों की जरूरत थी तो काका कालेलकर एक सारी डाली ही तोड़ लाए। बापू ने उन्हें कहा—"काका! हमें इतने पत्तों की जरूरत न हो तो क्यों तोड़ना चाहिए? हम थोड़े-से पत्ते तोड़ें उसके बदले भी हमें पेड़ से माफी मांगनी चाहिये।" इससे पता लगता है कि गाँधीजी का आदर्श विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति वात्सल्य तक का था। वे स्वयं 'हरिजनबन्धु' में लिखते हैं—"मनुष्य का अन्तिम ध्येय ईश्वर-साक्षात्कार है और उसकी सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी प्रवृत्तियाँ ईश्वर-दर्शन के इस ध्येय को लक्षित रख कर होनी चाहिये। मानव-मात्र (सारे समाज) की तात्कालिक सेवा उसकी साधना का एक आवश्यक अंग बन जाती है।"

[illegible] कथन से यह स्पष्ट है कि मनुष्यमात्र (समग्र मानव-समाज) के लिए सारे जगत् के प्राणियों के साथ एकरूप होना (दूसरे शब्दों में ईश्वर-साक्षात्कार करना) ही अन्तिम ध्येय होना चाहिए, और यह वात्सल्य से पृथक् कोई चीज नहीं है।

[illegible] जो मनुष्यमात्र का अन्तिम ध्येय है, वही धर्ममय समाज-[illegible] का ध्येय होना स्वाभाविक है।

[illegible] का उद्देश्य मानवसमाज को वर्तमान [illegible] है, [illegible] आगे और आगे जहाँ तक [illegible] है।

[illegible]

अपने अहंत्व, ममत्व और व्यक्तित्व को विश्वत्व में विलीन कर देना पड़ता है। ऐसे साधक को अपनी चिन्ता स्वयं नहीं करनी पड़ती, विश्व का सूक्ष्म और अव्यक्त प्राणिजगत तक उसकी चिन्ता करता है। और न ऐसे व्यक्ति को किसी का भय ही होता है न उद्वेग तथा न उससे भी कोई प्राणी भय या उद्वेग पाते हैं। इसीलिए उपनिषद् में कहा है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'

'एकत्व—विश्व के प्राणिमात्र में अभेद—के रूप में देखने वाले को मोह ही क्या और शोक भी कौनसा ?'

ऐसे व्यक्ति को विश्व के साथ एकत्व की अनुभूति का तो आनन्द तो आता ही है, साथ ही जैसे मां को अपनी संतति के लिए कष्ट सहने, भूखे-प्यासे रहने में भी संततिवात्सल्यवश आनन्द की अनुभूति होती है वैसे ही ऐसे सर्वभूतात्मभूत आत्मौपम्यदर्शक साधक को विश्व की निःस्वार्थ सेवा के लिये कष्ट सहने प्राण तक होमने और विश्व के विकास और शुद्धि के लिये भूखेप्यासे रहने में वात्सल्यानन्द आता है। इस प्रकार का उच्चसाधक विश्व के प्राणियों के भावों, संवेदनों, विचारों एवं सुख-दुःखों को एकत्वानुभव के कारण जान लेता है। विश्व की प्रत्येक घटना या क्रिया के साथ तब उसकी असंगति नहीं होती और न किसी भी चेष्टा को विश्व से गुप्त रखने की उसकी इच्छा ही होती है। ऐसे आध्यात्मिक पुरुष की विश्व-वात्सल्य-साधना से जगत को काफी लाभ होता है। स्वयं महात्मा गाँधीजी लिखते हैं—

"मैं मानता हूँ कि एक मनुष्य आध्यात्मिकता प्राप्त करता है तो उसके साथ सारी दुनिया को भी लाभ होता है और एक व्यक्ति

अतः संसार के समस्त आत्माओं का स्वभाव एक सरीखा है। इसमें निश्चयनय की दृष्टि से 'एगे आया' (आत्मा एक समान है) के सिद्धान्तानुसार कोई भेद नहीं है। जो भेद है वह रागद्वेष-कषायादिजनित कर्म, उपाधि या माया के कारण है। अतः प्रत्येक आत्मा को विश्वात्माओं से अभेद सिद्ध करने के लिए उनके रागद्वेषादि दोषों को दूर करने-कराने में पूरक-प्रेरक निमित्त बनना आवश्यक है। तीर्थंकरों द्वारा संघ बनाने का रहस्य भी यही है।

समाज से पृथक्त्ववादी जैन भी अब अणुव्रतादि के माध्यम से समाज के नैतिकशोधन करने में दिलचस्पी लेने लग गये हैं। यानी एकान्त आत्मकल्याण की विचारधारा से ऊपर उठ कर वे भ० महावीर की संघरचना के सिद्धान्त को लेकर समाज, राष्ट्र और विश्व के कल्याण की विचारधारा पर आ गये हैं। यद्यपि इनमें मौलिक परिवर्तन अभी तक नहीं आया, परन्तु समय के साथ वह भी आ जायगा, ऐसी आशा है।

कभी-कभी एकान्त या व्यक्तिगत साधना पर जोर पूर्वसंस्कारवश दिया जाता है, उससे उसमें जो खतरा है, उसकी ओर ध्यान न देकर जगत् से निर्बल बाजू की ओर साधक झुक जाता है। वे यह भूल जाते हैं कि एकान्तसेवी और एकाकी जिनकल्पी साधक भी समाज से स्थूलरूप से अलग रहते हुए भी सूक्ष्मरूप से सारे समाज से सम्बन्ध रखते रहे हैं, इतना ही नहीं, वे विश्व के छोटे-बड़े सभी प्राणियों के साथ आत्मीयता से ओतप्रोत बनने की साधना करते रहे हैं।

अद्वैतवेदान्तवादी आत्मैकत्व को तो मानते ही हैं। वे पहले आत्माद्वैत के ज्ञान पर जोर देते थे। उसका रहस्य भी यही था कि सारे संसार की आत्माओं के साथ एकत्व-आत्मीयता-की अनुभूति पहले हो जानी चाहिए। अनुभूति करने में उसे सक्रिय तो होना ही

सकता है। मैं समग्रसृष्टि का एक अंग हूँ और शेष मानवजाति से अलगरूप में उसे खोज ही नहीं सकता।"

उपर्युक्त वाक्य में आत्मा की पृथक्ता बताते हुए भी निश्चयदृष्टि से विश्व की समस्त आत्माओं के साथ अभिन्नता सिद्ध करना ही ध्येय बताया है और उसकी साधना बताई है प्राणिमात्र की सेवा; जो विश्ववात्सल्य ध्येय में सर्वप्रथम आ ही जाती है। इसीलिए महात्मा गाँधीजी 'मेरे स्वप्न का भारत' में स्पष्ट लिखते हैं—"प्रेम (वात्सल्य) और अहिंसा में सेवा का मूल न हो तो वह हो ही नहीं सकती। सच्चे प्रेम की कोई सीमा नहीं होती। वह समुद्र के समान है। मनुष्य के हृदय में उसका ज्वार उठता है तो सभी मर्यादाएँ या सीमाएँ लांघ कर प्रेम फैलाता-फैलाता वह सारी सृष्टि में व्याप्त हो जाता है। अहिंसा (वात्सल्य) का पुजारी सारी सृष्टि के श्रेय के लिए पुरुषार्थ करेगा और उस आदर्श को सत्य करने के लिए प्रयत्न करेगा। दूसरे जीएँ, इसके खातिर वह स्वयं मरने में सदा प्रसन्नता का अनुभव करेगा। वह स्वयं मर कर दूसरों की सबकी सेवा करेगा, उसमें उसकी अपनी सेवा तो आ ही चूकेगी।"

यह है आत्मा से विभुत्वशक्ति के गुण द्वारा विश्ववात्सल्य ध्येय को प्राप्त करने का सच्चा उपाय! जिसे महात्मा गाँधीजी ने अहिंसक समा रचना के प्रयोग के माध्यम से अजमाया था।

इसी बात की पुष्टि जैनशास्त्र दशवैकालिक करता है—

"सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पीहिं आसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥"

अर्थात्—'जो समस्त प्राणियों के साथ आत्मीयभूत हो जाता है और सब प्राणियों को अपने तुल्य देखता है, ऐसे अधर्म (आस्रव) रहित दान्त साधक के पापकर्म का बंध नहीं होता।'

इसका निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्यजीवन का सर्वांग ध्येय प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता या आत्मैपन्यरूप विश्ववात्सल्य ही है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे किसी प्राणी के सहयोग, प्रेम, सहनिवास या सम्पर्क की जरूरत होती है। तब उसे समाज और समष्टि के प्रति वात्सल्य बहाने की इस सहजवृत्ति को क्यों दबानी चाहिये ? इसीसे ही तो वह स्वार्थ को परमार्थ में परिणत कर सकता है और वहीं उसकी अनासक्ति, रागद्वेपरहितता, स्वत्वमोह-कालमोह से विरति की सच्ची कसौटी हो सकती है। यही सर्वभूतात्मभूत या समस्त प्राणियों के साथ सहयोग, वात्सल्य और सर्वभूतदया का चरमविकास ही मानवजीवन का अन्तिम ध्येय हो सकता है और इसी दृष्टि से विश्ववात्सल्य को प्रयोग का ध्येय माना है।

कई साधक मानते हैं कि 'संसार से, समाज से, कुटुम्ब और राष्ट्र से बिलकुल अलग होना ही हमारा ध्येय-मानवसमाज का अन्तिम लक्ष्य-होना चाहिए, विश्ववात्सल्य ध्येय ठीक नहीं; परन्तु यह निरा भ्रम ही है। जिन राग, द्वेष, कषाय आदि दुर्वृत्तियों या दुर्वासनाओं को निकालना है वे तो उसके मन में पड़ी हैं। समाज आदि से अलग-थलग हो जाने पर भी वे मन में उछलकूद मचाती रहेंगी। मन को वे कहाँ गठरी बांध कर रखेंगे ? अतः पूर्वोक्त दुर्वृत्तियां मन को परमार्थ से-विश्ववात्सल्य ध्येय से-भरने से अनायास ही निकल जायेंगी, उन्हें निकालने के लिए वनों में, एकान्त में, समाज या विश्व को छोड़कर कहीं जाने की जरूरत नहीं। फिर भी कोई व्यक्ति विश्ववात्सल्य ध्येय को न मान कर विश्व से अलग ही अपनी हस्ती मान कर, पृथक्ता को ही अपना चरमलक्ष्य बना कर अपनी डेढ़-चावल की खिचड़ी अलग पकाने जायगा तो उसकी साधना में जहाँ

त्रुटि, स्खलन या दोष हो रहे होंगे या कहीं वह अपने सिद्धान्त से च्युत हो रहा होगा तो कौन उसे सावधान करेगा ? क्योंकि वह समाज से सम्बन्ध तो बिलकुल ही काट लेता है। अगर समाज में सम्बन्ध रखता तो कोई न कोई उसे सावधान कर देता और समाज में किसी से कोई भूल हो रही हो उस समय वह उस व्यक्ति को भी सावधान कर देता। इस प्रकार जीवन की शुद्धि की परस्परपूर्ति हो जाती। ऐसी पृथकता को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान कर चलने से तो व्यक्ति में निपट निजत्व ही शेष रह जायगा, जिसके कारण उसका जीवन शुष्क और नीरस हो जायगा। न वह संसार की सुख-वृद्धि और दुःखह्रास के पुरुषार्थ में भाग लेगा और न संसार उसकी दुःखहानि व सुखवृद्धि में निमित्त बनेगा। इस प्रकार सारा संसार उसे नीरस और दुःखमय लगेगा। जीवन में जो सच्चा आनन्द आना चाहिये, वह नहीं आ पाएगा। क्या हमें मानवसमाज को अन्त में शुष्क, नीरस, लक्ष्यविहीन और आनन्दरहित बनाना है ? यदि नहीं तो फिर हमारा ध्येय समाज और विश्व से पृथक् होकर स्वार्थी (केवल स्वात्मार्थी) बन जाने का कदापि नहीं हो सकता। तब मानव-जीवन का चरम लक्ष्य 'विश्ववात्सल्य' ही न्यायोचित लगता है और वही प्रयोग का ध्येय हो सकता है। इस ध्येय से समाज के जीवन में रसमयता, मस्ती, आनन्द, सुखवृद्धि, दुःखह्रास, अभयवृत्ति, सुरक्षितता (सलामती) एवं शान्ति पैदा होगी। इस ध्येय से समाज को एक दूसरे मानव के प्रति ही नहीं, प्राणी के प्रति भी त्याग करने, सहन करने, सहयोग देने और बलिदान देने तक की प्रेरणा, उत्साह, साहस, प्रोत्साहन एवं जोश मिलेगा।

यहाँ यह सवाल उठ सकता है कि एक कुटुम्ब में या एक संस्था में भी वात्सल्य साधना कठिन होता है तो फिर सम्पूर्ण विश्व के

पशुपक्षीवात्सल्य तक एवं विश्वकुटुम्बी साधु-संत-संन्यासी के विश्व-वात्सल्य तक पहुँचने की क्षमता या सीमा रखी है। यद्यपि इन सब में पात्रता विश्ववात्सल्य ध्येय तक पहुँचने की पड़ी है और समय आने पर न्यायसम्पन्न, नीतिसम्पन्न और धर्मसम्पन्न इन तीनों में से कोई भी व्यक्ति मानवेतर प्राणी के प्रति वात्सल्य के प्रेरित होकर अपने प्राणों को होमने के लिए तैयार हो जाता है। जैसे क्षत्रिय-शासक या राज्यकर्तावर्ग की वात्सल्य-पालनपरिसीमा अन्तर्राष्ट्रीय-वात्सल्य तक है, परन्तु मेघरथ (शान्तिनाथ तीर्थंकर के पूर्वभव में) राजा और शिवि राजा एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने प्राण होमने को तैयार होगए थे। राजकुमार गौतम देवदत्त के चंगुल से एक बतक छुड़ाने के लिए सर्वस्व त्याग को तैयार हो गए थे। हज़रत मुहम्मद ने हिरणी को बचाने का पुरुषार्थ किया। कुमारपाल राजा ने अपने समस्त राज्य में पशुवध बन्द करवा दिया था, कत्लखाने भी सदा के लिए बन्द करवा दिये थे। राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) की सरकार ने मयूर को राष्ट्रीय पक्षी स्वीकृत करके उसके शिकार को सारे राष्ट्र से निषिद्ध घोषित कर दिया है। गुजरात का एक ठाकरड़ा जाति का भाई, एक शिकारी मोर को मारने के लिए बन्दूक तान रहा था कि तुरन्त वहां पहुँचा और उसे मोर को न मारने के लिए बहुतेरा समझाया। नहीं मानने पर वह स्वयं मोर के आगे बन्दूक के सामने सीना तान कर खड़ा हो गया। कहने लगा—'पहले मुझे मार दो, मोर को मत मारो।' अन्त में शिकारी समझ गया। वह मोर को बिना मारे ही चला गया। गुजरात और राजस्थान के महाजनों ने तो पशुपक्षियों की रक्षा के लिए जगह—जगह संस्थाएँ खोल रखी हैं। श्रावकों, ब्राह्मणों एवं समाजसेवकों ने भी समाज, देश और प्राणियों की रक्षा के लिए अपने प्राण, धन, भूमि तथा स्वार्थ का बलिदान दिया है; जिसके अनेकों उदाहरण भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। जैन-

धर्मी गृहस्थ द्वारा पौषध, सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि में अमुक अवधि तक तो प्राणिमात्र-यहाँ तक कि सूक्ष्मजीवों के प्रति वात्सल्य का अभ्यास किया जाता है और हिन्दूधर्म (वैदिक, वैष्णव, शैव आदि शाखाओं) में तो पूर्वोक्त कथनानुसार गाय, कुत्ता, पेड़-पौधे, जल, अग्नि, पृथ्वी आदि के प्रति वात्सल्य का प्रतिदिन अभ्यास करने के संस्कार मौजूद हैं ही।

हाँ, तो इन सबसे यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि कोई भी व्यक्ति प्रतिदिन, कुछ समय तक या कभी मौका आने पर विश्ववात्सल्य (समष्टि तक के प्रति वात्सल्य) का अभ्यास करता रहे तो सभी स्तर की संस्थाओं के व्यक्तियों में आसानी से विश्ववात्सल्य तक पहुँचने की योग्यता आ जाती है।

ध्येय तक पहुँचने का क्रम

प्रस्तुत प्रयोग के माध्यम से विश्ववात्सल्य ध्येय तक पहुँचने के लिए क्रम यह है कि पहले विश्व को तीन विभागों में बांटना होगा— (१) व्यक्ति, (२) समाज और (३) समष्टि। 'व्यक्ति' से प्रस्तुत प्रयोग में [illegible] व्यक्तियों का ग्रहण करना है, जिन्होंने प्राणों की [illegible] अपने जीवन में विश्ववात्सल्य की साधना सिद्ध [illegible] महावीर से भगवान [illegible] [illegible] पूर्णिमा और [illegible] [illegible] [illegible]

'समाज' से विश्व के विभिन्न भागों के सभी मनुष्यों एवं मानव-संस्थाओं का ग्रहण हो जाता है, क्योंकि समाज मानव का ही बनता है, अन्य किसी प्राणी का नहीं। और सच्चे मानों में मानव सामाजिक सुसंस्थाओं के जरिये ही बन सकता है।

'समष्टि' से मतलब है—मानवजाति से भिन्न शेष समस्त प्राणि-समूह। इसमें मनुष्य के सिवाय एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के स्थूल-सूक्ष्म समस्त जीव आ जाते हैं।

प्रयोग के द्वारा ध्येय तक पहुँचने के लिए व्यक्ति, समाज और समष्टि तीनों को क्रमशः नहीं, अपितु तीनों कोणों से एक साथ तीनों को पकड़ना होगा। एक ओर से पूर्वोक्त श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति आदर रखते हुए उनके जीवन से विश्ववात्सल्य की यथायोग्य एवं यथासमय प्रेरणा ली जायगी, उनके गुण ग्रहण किये जायँगे। दूसरी ओर से मानवसमाज का निर्माण भी इस प्रकार से यथाक्रम से ध्येया-भिमुख सर्वतोमुखी किया जायगा कि वह (मानवसमाज) विश्ववात्सल्य ध्येय-प्राप्ति में सहायक हो सके। साथ ही विविध-सुसंस्थाओं के माध्यम से सुनिर्मित और सुघटित जीवन वाला मानवसमाज मानवेतर समस्त प्राणियों (पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा पृथ्वी-जलादि त्रस-स्थावर समस्त जीवों) के प्रति मैत्री, कारुण्य, प्रमोदभाव और माध्यस्थ्यभाव का यथासम्भव उचित व्यवहार करने लग जायगा। जो उच्चकोटि के साधक होंगे, वे तो स्वयं व्यक्ति से लेकर समष्टि तक की वत्सलता अपने जीवन में चरितार्थ कर ही लेंगे; वैयक्तिक साधना के साथ-साथ समाज-निर्माण की साधना करते हुए। इस प्रकार पहले बताई हुई समाज की प्रत्येक इकाई की वात्सल्य-सीमा को दृष्टिगत रखने पर भी प्रयोग के माध्यम से सबको समय-समय पर विश्ववात्सल्य की साधना का अवसर मिलता जायगा और वे सब इकाइयाँ आगे से

आगे बढ़ती जायेंगी; पूर्व-पूर्व श्रेणी में उत्तीर्ण होकर उत्तर-उत्तर श्रेणी में प्रविष्ट होती जायेंगी। उत्तरभूमिका वाले में पूर्वभूमिका वाले सबके प्रति वात्सल्य तो रहेगा ही। बल्कि उनका वह संकुचित और एककुटुम्बवात्सल्य धीरे-धीरे सारे समाज और समष्टि तक के प्रति एकान्त हित की दृष्टि से प्रस्फुरित व प्रगट होगा।

पुराने जमाने में ऋषि-मुनियों या तीर्थंकर-अवतारों ने मानवजाति को क्रमशः विश्ववात्सल्य तक पहुँचने का रास्ता बताया ही था। मानवजाति सर्वप्रथम दीर्घकाल तक अपनी जिंदगी को टिकाए रखना चाहती थी, किन्तु एक शरीर से तो टिका नहीं सकती थी, यानी अनन्तकाल तक अपना अस्तित्व देख नहीं सकती थी। इसलिए पहलेपहल मानवजाति को अपनी सन्तान में अपना अस्तित्व देखने की प्रेरणा मिली थी। यानी वह स्वसन्तान के प्रति वात्सल्य बहाकर अपने अस्तित्व को सन्ततिप्रवाह के माध्यम से चिरकाल तक टिकाये रखने की कल्पना करने लगी। इसीलिए "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" यह कह कर "संतान तन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" (सन्ततितंतु का उच्छेद न करो) का सूत्र प्रचलित हुआ। तत्पश्चात् भ० ऋषभदेव, आदिमनु आदि पुरुषों ने उससे आगे बढ़ कर मानव को सारे कुटुम्ब या कुल (कुनबे) के प्रति वात्सल्य बहाने की प्रेरणा दी। कुलों में से ज्ञातियाँ बनीं। यहाँ तक रक्त का सम्बन्ध था। इसलिए वात्सल्य के बदले मोह, आसक्ति या राग की भी सम्भावना थी। अतः उन्होंने बताया कि "समाज के प्रति वात्सल्य बहाओ। क्योंकि समाज का व्यक्ति पर बहुत बड़ा उपकार है। सारा समाज व्यक्ति के हित, सुख और सुरक्षा की चिन्ता करता है। फिर व्यक्ति या उसका कुल अकेला बड़ी-बड़ी आफतों और तकलीफों से सामना नहीं कर सकता, वह परिस्थिति के आधीन हो जायगा। समाज के प्रति वात्सल्यसम्बन्ध से तुम्हारा सम्बन्ध भी अशुद्ध नहीं होगा। उसके साथ वात्सल्य-

व्यवहार करने के लिए उनकी सेवाशुश्रूषा करना: रक्षा करना, उनकी सुखवृद्धि करना और हितकर प्रवृत्ति में सहयोग देना जरूरी है। इसीलिए उन महापुरुषों ने चार प्रकार के कर्तव्य, व्यवसाय यानी कर्म और गुण पर आधारित चातुर्वर्ण्य-समाज को परस्परावलम्बी, अन्योन्यपूरक एवं परस्परहितदर्शी बनाया। इस प्रकार कुटुम्ब-वात्सल्य से समाज-वात्सल्य का विकास हुआ। अर्थात् जो वात्सल्य अब तक कुटुम्ब तक ही सीमित था, उसका दायरा समाजवात्सल्य तक बढ़ा। चूंकि भारतीय समाजव्यवस्था की प्रणाली के अनुसार नगर, ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र, धर्मसम्प्रदाय आदि सभी का समावेश 'समाज' में हो जाता है, इसलिए समाजवात्सल्य में नगर, ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र धर्मसम्प्रदाय, मानव-संस्थाएँ आदि के प्रति वात्सल्य गर्भित है। समाज की आज तक जो शुद्धि-वृद्धि-समृद्धि हुई, समाज में हजारों मानवों-महामानवों द्वारा जो ज्ञान-विज्ञान बढ़ाया गया: अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का क्रमशः विकास हुआ और समाज को टिकाये रखने के लिए जो कुछ प्रयत्न किये गये, एवं कतिपय महानुभावों ने सामाजिक ऋण से उऋण होने के लिए अपनी संतति को समाज के चरणों में, समाजसेवा के लिए अर्पित की; यह सब समाजवात्सल्य से प्रेरित होकर ही। हजारों ऋषियों ने समाज-वात्सल्य की दृष्टि से समाज को शिक्षादीक्षा, सुसंस्कार दिये और मानवजाति के उत्थान के लिए भगीरथ काम किए; सभ्यता और संस्कृति का विकास किया। समाजवात्सल्य में वात्सल्यस्तनपान दूसरों को ही नहीं कराता अपितु स्वयं भी करता है। अगर समाजवात्सल्य तक मनुष्य न बढ़ता तो उसका जीवन आज पशुपक्षी के सदृश होता। वह अपने ही घरौंदे में पड़ा रहता, अविकसित, असभ्य और असंस्कृत रहता।

परन्तु आगे चल कर कई महापुरुषों—खास कर भ० ऋषभदेव

साथ प्रमोदव्यवहार के रूप में उनकी प्रशंसा की जायगी, आदरसन्मान दिया जायगा तथा उनको प्रतिष्ठा दी जायगी। इसमें भी प्रयोक्ता या प्रयोग मुख्यतया अपने साधनरूप मानवसमाज को ही प्रेरित करेगा। किन्तु जो व्यक्ति, संस्था, समाज या समष्टि क्रूर, दुष्ट, दुर्जन, अन्यायी, अत्याचारी, पापी, अनिष्टकारी, उपद्रवी या उद्दण्ड होंगे उनसे यह प्रयोग माध्यस्थ्य-व्यवहार की दृष्टि से असहयोग, असहकार, बहिष्कार (अहिंसक ढंग से) रखेगा, उन्हें अप्रतिष्ठित करके या उन पर सामाजिक नैतिक दबाव डाल कर प्रयोग उन्हें सुधरने को बाध्य करेगा, माता की तरह अरागद्वेष रख कर उनकी शुद्धि करने-कराने का प्रयत्न करेगा, उन्हें सच्चा न्याय दिलायेगा; क्योंकि उनका हित, उनका उदय इसी में ही है। और ऐसा करने में जैसे माता का मातृत्व लज्जित नहीं होता, बल्कि सुशोभित ही होता है। वैसे ही प्रयोग या प्रयोक्ता करेंगे।

मतलब यह कि सारे जगत् के मातृत्व का ध्येय रख कर चलने वाला प्रयोग या प्रयोक्ता क्रूर से क्रूर या उद्दण्ड से उद्दण्ड प्राणी, मानव-संस्था, समाज या समष्टि, को अपना आत्मीय मान कर, नम्र बन कर, माता की तरह उसकी गंदगी को अपनी गंदगी समझ कर साफ करने की चेष्टा करेगा। परन्तु ऐसा करते समय वह किसी प्रकार का पक्षपात, अहंभाव, द्वेष, घृणाभाव या स्वार्थबुद्धि अपने में नहीं आने देने के लिए पूरा सावधान रहेगा।

यही प्रस्तुत प्रयोग द्वारा विश्ववात्सल्य ध्येय तक पहुँचने का व्यवहारिक और सरल मार्ग है।

प्रयोगकार और प्रयोगसहयोगी कौन होगा ?

वस्तुतः यह समूचा प्रयोग प्रयोगकर्ता की ,व्यापक, सर्वांगी और

स्पष्ट दृष्टि पर निर्भर है। अगर प्रयोगकर्ता योग्य, कार्यदक्ष उच्च-चारित्र-वान और दृष्टिसम्पन्न न हुआ और उसके साथ ही प्रयोग की प्रवृत्तियों में प्रत्यक्षरूप से जुटने वाले और प्रयोग का संचालन करने वाले रचनात्मक कार्यकर्ता भी लोकविश्वस्त सर्वांगीस्पष्टदृष्टिप्राप्त, सदाचारी एवं प्रयोग के प्रति वफादार न हुए तो प्रयोग का ध्येय ऊँचा से ऊँचा होने पर भी और प्रयोग के पीछे दृष्टि और कार्यपद्धति स्पष्ट होने पर भी प्रयोग सफल न हो सकेगा; प्रयोग उद्देश्य के अनुरूप प्रगति न कर सकेगा। या तो वह प्रयोग संकीर्ण दायरे में बन्द होकर रह जायगा या वह किसी कौमवाद, सम्प्रदायवाद, राष्ट्रवाद, राहतवाद, अधिनायकवाद या पूंजीवाद के हाथों में खेलने लगेगा। अथवा वह प्रयोग स्वार्थसाधुओं का अड्डा बन जायगा। ऐसे प्रयोग से संसार का या मानवसमाज का कोई खास हित या कल्याण नहीं हो सकेगा।

कई दफा प्रयोगकर्ता के स्वयं सावधान न होने, और अपने प्रयोग के चारों ओर बाहर तथा प्रयोग के अन्दर चलने वाली गतिविधियों के प्रति उपेक्षा, लापरवाही, उदासीनता और गैरजिम्मेवारी से ऐसे बड़े प्रयोगों में आर्थिक घोटाले, बेईमानी, पक्षपात, अनिष्टों एवं अनिष्टकारियों की घुसपैठ चलती रहती है। प्रयोग में केवल आर्थिक सहयोग देकर; बाकी का नैतिकजीवन न सुधारने वाले कई शोषणकर्ता व्यक्ति प्रयोग पर अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं। वे प्रयोग पर एक प्रकार से छा जाते हैं और अपनी मिलीभगत करते रहते हैं; अपने ही पिछलग्गुओं को प्रयोग में घुसा देते हैं, सामान्य नीतिमय जनता को उसके उचित लाभ से वञ्चित कर देते हैं। या अपना ही स्वार्थ साधने या प्रतिष्ठा लूटने का प्रयत्न करते रहते हैं। दूसरी ओर प्रयोगकर्ता भी प्रमादवश अपनी ही सुख-सुविधाओं के चक्कर में पड़ कर जनसेवा, लोककल्याण या प्रयोग के नाम पर, स्वयं के स्वार्थ

या प्रमादवश आश्रम, मठ, मन्दिर या अन्य सार्वजनिक स्थानों को अपने स्वामित्व (मालिकी) के बनाकर उनकी आय से मौज उड़ाने लगते हैं। अथवा राष्ट्रसेवा के नाम पर या तो राष्ट्रव्यक्ति या एकसम्प्रदायी राष्ट्रवाद के चक्र में जनता को फंसा दिया जाता है या किसी विरोधी राजनैतिक पक्ष के दलदल में फंसा दिया जाता है। या प्रयोग की मुख्य दृष्टि भूल कर, लक्ष्य के प्रति आँखमिचौनी करके लोकशक्ति एवं लोकसेवकशक्ति जगाने के बदले प्रयोगकर्ता या प्रयोगसहयोगी केवल राहत के काम लेकर ही चलाते हैं, जिनसे जनता के जीवन का वास्तविक निर्माण नहीं कर पाते। कई प्रयोक्ता या प्रयोगसहयोगी तो राहत के नाम पर काफी धन इकट्ठा कर लेते हैं, या सत्ता प्राप्त करने में लग जाते हैं। फिर उनकी संस्थाओं में धन के कारण मकोड़े की तरह चिपकने वाले ट्रस्टियों, कार्यकर्ताओं या सदस्यों में पद एवं अधिकार के लिए झगड़े होते हैं। फिर संस्था द्वारा प्रयोग करके जनता को लाभ पहुँचाना तो दूर रहा, वे उसके अपने ही झगड़ों में उलझे रहते हैं। या फिर वे कोरा विचार-प्रचार करके ही अपने प्रयोग की इति समाप्ति मान लेते हैं। विचार-प्रचार भी एक साधन है, परन्तु उतने में ही प्रयोग के कर्त्तव्य की इति नहीं हो जाती। प्रयोग के लिए तो पूर्वपृष्ठों में बताए गए उसके सर्वांगीणरूप को खड़ा करने के हेतु इधर-उधर की भूलभुलैया या क्षेत्रीय, सुविधाकीय प्रलोभनों में न पड़ कर प्रयोगक्षेत्र (जितना विशाल प्रदेश, जिला तहसील या प्रान्त चुना हो) में जम कर दृष्टि और सावधानीपूर्वक जुट जाने का सतत प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ता है। यही कारण है कि इस प्रयोग की सफलता-निष्फलता का सारा दारोमदार प्रयोगकर्ता या प्रयोगसहयोगियों की निष्ठा, दृष्टि, सावधानी और सच्चरित्रता पर निर्भर है। इसीलिए इस प्रकरण में उसी के बारे में चर्चा करना आवश्यक समझते हैं।

धर्ममय समाजरचना के प्रयोग के कर्ता में तो उच्चकोटि की पात्रता, योग्यता, कार्यक्षमता और अध्यात्मशक्ति होनी चाहिए। कुछ खास योग्यताओं का नीचे उल्लेख किया जाता है—

(१) अपने घरबार, जमीन-जायदाद या कुटुम्ब-कबीले के साथ मालिकी या आसक्ति का सम्बन्ध छोड़ कर जो परिग्रह (सूक्ष्म), प्राण और प्रतिष्ठा भी सत्य या सिद्धान्त के लिए छोड़ने को तैयार रहता हो। वह या तो साधुसंन्यासी हो या संतकोटि का उत्तम साधक हो, भले ही गृहस्थवेषी हो।

(२) उसमें मनुष्यजाति से लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतंग तक ही नहीं, पृथ्वी, जल आदि स्थावर (अन्तःसुषुप्त चेतना वाले) जीवों तक के प्रति, वात्सल्य का सक्रिय आचरण हो।

(३) वह अहिंसा-सत्य आदि पंच-महाव्रतों का पालक हो, क्रान्ति-प्रिय हो और सर्वांगी-सर्वक्षेत्रस्पर्शी-स्पष्ट-दृष्टिसम्पन्न हो। अर्थात् उसका जीवन-निर्माण वैचारिक और आचारिक दोनों दृष्टियों से हुआ हो। उसे अव्यक्तशक्ति (जीवन और जगत् की महानियामिका-शक्ति) या परमात्मशक्ति पर पूर्ण श्रद्धा और निष्ठा हो। साथ ही सर्व-धर्म-समुपासना उसके जीवन में परिणत हो गई हो।

(४) वह व्यक्तिवादी न होकर सामूहिक साधना में विश्वास रखता हो और सुसंस्थाओं (सुसंगठनों) के माध्यम से समाजरचना के प्रयोग और धर्मक्रान्ति में विश्वास रखता हो। उसकी दृष्टि समाज जीवन के आर्थिक, धार्मिक आदि किसी भी क्षेत्र को छोड़ कर चलने की न हो।

(५) विश्ववात्सल्य-ध्येय-साधक होने के कारण उसमें विश्व के साथ अनुबन्ध जोड़ने की कला और दृष्टि हो। तथा समाज की प्रत्येक ईकाई को स्व-स्वभूमिका के अनुसार मार्गदर्शन देने की क्षमता और कुशलता रखता हो। वह सारे विश्व का अनुप्रेक्षण या चिन्तन करता

रहता हो। कुछ विशेषताएँ भी ऐसे प्रयोक्ता में होनी आवश्यक हैं—

(१) वह सिद्धान्तरक्षापूर्वक लोकसंग्रहकर्ता हो। लोकसंग्रह के लिए उसकी भिक्षाचरी, पैदल भ्रमण या उपदेश-प्रेरणा का दायरा व्यापक हो। या उसका जीवननिर्वाह समाजाधारित हो।

(२) वह तप-त्याग से अभ्यस्त हो; अनासक्ति, निर्लेपता, जागरूकता, एवं तादात्म्य-ताटस्थ्य का पूर्ण विवेकी, उदार और नम्र हो।

(३) उसमें अहिंसक प्रतीकार करने की शक्ति, प्रयोगप्रीति, प्रयोगतीव्रता, प्रलोभनों और भयों के बीच भी सिद्धान्त पर अटल रहने की वृत्ति, विविध कार्य करने की क्षमता, कष्टसहिष्णुता आदि गुण हों। वह सत्यग्राही हो, अपने सम्बन्ध में व्यक्तिगत आक्षेपों को सहता हुआ भी संस्थासम्बन्धी गलत आक्षेपों को सहन न करने वाला हो। समग्रसमाज की विविध संस्थाओं व व्यक्तियों की गतिविधियों से एवं विश्व के घटनाचक्रों तथा युग-प्रवाहों से पूरा जानकार रहता हो। अपनी आत्म-शुद्धि के साथ-साथ समाजशुद्धि के लिए भी प्रयत्नशील हो।

प्रस्तुत प्रयोग में व्रतबद्ध, सर्वांगी-सर्वक्षेत्रस्पर्शी-स्पष्ट-दृष्टि-सम्पन्न सेवाभावना वाले जनसेवक-जनसेविकाएँ ही प्रयोगसहयोगी हो सकेंगे। जहाँ प्रत्यक्ष प्रयोग-प्रवृत्तियों में पड़ने की प्रयोक्ता की सीमा आ जायेगी, वहाँ प्रत्यक्ष प्रयोग-प्रवृत्तियों में प्रयोक्ता के हाथपैर बन कर वे पड़ेंगे। ये लोकविश्वस्त, सदाचारी, हिसाब-किताब में पक्के ईमानदार, एवं नारीजन-विश्वस्त भी होंगे। ईश्वर या अव्यक्तशक्ति पर भी इनका पक्का विश्वास होगा। इनकी विशिष्ट योग्यताओं और विशेषताओं के बारे में आगे के प्रकरण में काफी प्रकाश डाला जायगा।

रेलगाड़ी अपने गन्तव्य स्थान पर तभी सहीसलामत पहुंच सकती , जब उसको ठीक रास्ते पर चलने के लिए दो पटरियां बिछा दी ाती हैं। साथ ही अलग-अलग बिखरे हुए डिब्बों को एक जगह ाना होता है और उन बेतरतीब पास-पास पड़े हुए डिब्बों को एंजिन साथ तथा फर्स्ट, सेकंड, थर्ड क्लास आदि के डिब्बों को परस्पर क्रम जोड़ना होता है। अगर उनका जुड़ाव जरा भी ढीला या गलत हुआ । रास्ते में ही वे डिब्बे कट कर अलग हो जाएंगे। इसके अलावा उन डब्बों या एंजिन में कोई खराबी, नुक्स या बिगाड़ होगा तो वे रास्ते ही अटक जायेंगे, या कहीं दुर्घटना के शिकार हो जायेंगे। इसलिए नकी सफाई और मरम्मत करना भी लाजमी होता है। इसके अलावा ह एंजिन या डिब्बे ठीक ढंग से पटरी पर चलते हैं या नहीं ? अगर ग से गति नहीं करते तो वे अधर्बीच में ही रुक जायेंगे। इसलिए जिन या डिब्बों को पहले बारबार मेंटिंग (चलने का अभ्यास) राया जाता है, या चलाकर उनकी जांच-पड़ताल कर ली जाती है। थ ही उन्हें धीमी या तेज रफ्तार से पटरियों पर दौड़ने का अभ्यास प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इतना होने पर ही रेलगाड़ी गन्तव्य ान पर सुरक्षित सकुशल पहुँच पाती है।

समाजरूपी रेलगाड़ी पर भी यह बात पूरी ठीक उतरती है। ‌माजरूपी रेलगाड़ी को भी अपने श्रेयरूपी गन्तव्यस्थान पर पहुंचने लिए सर्वप्रथम नीति और धर्म की दो पटरियां व्यवस्थितरूप से बिछानी होंगी। साथ ही समाज को विविध संगठनोंरूपी डिब्बों ढालना भी जरूरी है और उन अलग-अलग बिखरे डिब्बों को एक ागह समाजरचना-प्रयोगरूपी स्टेशन पर लाना भी उतना ही आवश्यक । इसके बाद गन्तव्यस्थान पर सुरक्षितरूप से पहुँचाने के लिए न अलग-अलग पड़े हुए विविध प्रकार के (लोक-लोकसेवकसंगठन, ांग्रेस आदि) संगठन-डिब्बों को क्रमश: होशियारी से, व्यवस्थित

एवं विश्व की हानिकर परिस्थिति को बदला या सुधारा नहीं जा सकता; पुराने गलत मूल्यों को उखाड़ कर नये मूल्य स्थापित नहीं किये जा सकते। मशीन के विविध पुर्जों को आप बेतरतीब से इकट्ठे कर देंगे तो मशीन नहीं चलेगी। जो पुर्जा जिस स्थान पर था, उसे उसी स्थान पर पुनः व्यवस्थितरूप से, तरतीब से जमा देने और जोड़ देने पर भी, उन पुर्जों में कहीं खराबी, टूटफूट या बिगाड़ हो उसको सुधारेंगे नहीं तब तक भी वह मशीन चलेगी नहीं। इतना ही नहीं; इतना सब करने पर भी जब तक उस मशीन के सब पुर्जों को बराबर चलायेंगे नहीं; उनकी ट्राई नहीं करेंगे तो वे कहीं बीच में ही रुक जायेंगे। वह मशीन ठप्प हो जायगी। इतनी सारी प्रक्रियाएँ करने पर ही आप उस मशीन से अपना अभीष्ट मनोरथ सिद्ध कर सकेंगे। या अभीष्ट सफलता पा सकेंगे। इसी प्रकार समाजरूपी मशीन की अभीष्ट सफलता के लिए उसके पुर्जों को संगठित, अनुबद्ध, शुद्ध और प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है।

६

संगठन

संगठन का महत्त्व और आवश्यकता

प्रयोग के पूर्वोक्त चार अंगों में से संगठन प्रधान और मूल अंग है। यद्यपि अन्य अंगों का भी अपना-अपना स्थान है; परन्तु मूल वस्तु संगठन है। यदि संगठन न हो तो अनुबन्ध किनका होगा? शुद्धि किनकी और किसके माध्यम से होगी? प्रशिक्षण भी किनको और कैसे दिया जा सकेगा? संगठन है तो ये सब हैं और प्रयोग की गति-प्रगति करा सकते हैं। परन्तु संगठनरूपी शरीर ही निर्जीव हो तो उसके साथी अंग किसे प्रतिदान करेंगे? एक तरह से संगठन सोना है तो अनुबन्ध, शुद्धि आदि उस पर घड़ाई का काम करने वाले हैं। संगठन इमारत है तो अनुबन्ध आदि उस पर चूना और रंगरोगन करने वाले हैं। इसलिए संगठन इस प्रयोग-वृक्ष की जड़ है, और शेष अंग इसकी शाखाएँ, पत्ते, फूल-फल आदि हैं। प्रयोगरूपी वृक्ष इन चारों से ही सुशोभित होता है, अनेकों प्राणियों का आश्रयदाता बनता है, किन्तु जड़ ही न हो या सूख रही हो तो प्रयोगवृक्ष कितने दिनों हराभरा व पत्रपुष्पशाखान्वित रहेगा? इसलिए प्रयोग में संगठन का महत्त्व सर्वाधिक है।

कोयले जल रहे हैं। उससे निकलने वाली भाप अनियन्त्रित हो कर आकाश में उड़ कर बिखर रही है। यदि उसी भाप को किसी

इंजिन या मशीन के बोइलर में नियन्त्रित किया जाय, संगठित किया जाय तो वह बड़ी से बड़ी ट्रेन या मशीन को चलाने में और हजारों मन बोझा खींच कर लेजाने में समर्थ हो सकती है। इसी प्रकार समाज की बिखरी हुई, अनियन्त्रित विविध शक्तियों के अलग-अलग पड़ी रहने से समाज में एक आदमी द्वारा फैलाए हुए अनिष्ट से भी वे लोहा लेने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। ऐसी दशा में कोई भी एक गुंडा, अराजक या उपद्रवी व्यक्ति समाज की सुखशान्ति को भस्म कर सकता है; कोई भी किसी पर जुल्म ढहा सकता है; अन्याय-अत्याचार कर सकता है, किसी की बहन-बेटी पर कोई भी गुंडा बलात्कार कर सकता है; क्योंकि समाज की सभी शक्तियाँ अस्तव्यस्त और अपने-अपने स्वार्थ में लीन हैं। इसीलिए सभी उस असह्य घटना पर उपेक्षा कर देते हैं या दार्शनिकता की भाषा बघारने लगते हैं—'ऐसा तो समाज में हर रोज ही होता रहता है! किस-किस के पचड़े में पड़ें? करेगा सो भरेगा! उसके जैसे कर्म! हम क्या करें? हम ही अकेले क्या कर सकते हैं? हमसे अकेले से क्या होना है? सभी चलें तो हम भी चलें; नहीं तो अपना समय क्यों बर्बाद करें? इस प्रकार की कायरता-भरी, नामर्दानगी की एवं स्वार्थी भाषा तभी व्यक्त होती है, जब समाज में सुसंगठन नहीं होता।

एक व्यापारी है। वह न्यायनीति और ईमानदारीपूर्वक चलना चाहता है; समाज में अपनी प्रतिष्ठा और साख को भी बरकरार रखना चाहता है; किन्तु इन्कमटेक्स, सेल्सटेक्स, रेलवे या किन्हीं अन्य महकमों में कार्यवश जाता है; वहाँ सरकारी कर्मचारी और अधिकारी उससे रिश्वत मांगते हैं। रिश्वत नहीं देता है तो वे उसका काम जल्दी नहीं करते और एक छोटे से काम के लिए बराबर धक्के खिलाते रहते हैं। समय भी काफी नष्ट होता है, साथ ही सरकारी कर्मचारी या अधिकारी की नाराजगी कई दफा उसके काम को बिगाड़ भी देती

संगठन

संगठन का महत्त्व और आवश्यकता

प्रयोग के पूर्वोक्त चार अंगों में से संगठन मुख्य और मूल अंग है। यद्यपि अन्य अंगों का भी अपना-अपना स्थान है; परन्तु मूल वस्तु संगठन है। यदि संगठन न हो तो अनुबन्ध किसका होगा? शुद्धि किसकी और किसके माध्यम से होगी? प्रशिक्षण भी किसको और कैसे दिया जा सकेगा? संगठन है तो ये सब हैं और प्रयोग को गति-प्रगति करा सकते हैं। परन्तु संगठनरूपी शरीर ही निर्जीव हो तो उसके साथी अंग किसे प्रतिदान करेंगे? एक तरह से संगठन सोना है तो अनुबन्ध, शुद्धि आदि उस पर घड़ाई का काम करने वाले हैं। संगठन इमारत है तो अनुबन्ध आदि उस पर चूना और रंगरोगन करने वाले हैं। इसलिए संगठन उस प्रयोग-वृक्ष की जड़ है, और शेष अंग इसकी शाखाएँ, पत्ते, फूल-फल आदि हैं। प्रयोगरूपी वृक्ष इन चारों से ही सुशोभित होता है, अनेकों प्राणियों का आश्रयदाता बनता है, किन्तु जड़ ही न हो या सूख रही हो तो प्रयोगवृक्ष कितने दिनों हराभरा व पत्रपुष्पशाखान्वित रहेगा? इसलिए प्रयोग में संगठन का महत्त्व सर्वाधिक है।

कोयले जल रहे हैं। उससे निकलने वाली भाप अनियन्त्रित हो कर आकाश में उड़ कर बिखर रही है। यदि उसी भाप को किसी

ा रह कर जितना काम कर सकते हैं, उससे सौ गुना काम संघ-
; से हो सकता है। तथा संगठनबद्ध होने से उनका निर्माण
विकास भी हो सकता है। स्वार्थत्याग, सहनशीलता और सम-
वृत्ति, तथा व्यक्तियों का जीवननिर्माण संगठनबद्ध हुए बिना नहीं
भव नहीं। मनुष्य में दया, प्रेम, सेवा, सहिष्णुता, वत्सलता आदि
जो अविकसित व सुषुप्त रहते हैं, उन्हें विकसित और जागृत
का मौका संगठन से ही मिलता है। इसलिए मानव में स्वहित
थान पर सर्वहित की व्यापक व उदात्त भावना पैदा करने के
सुसंगठन की नितान्त आवश्यकता है। संगठन के अभाव में
क्ति में गैरजिम्मेवारी, स्वच्छंदता और निरंकुशता आदि दुर्गुणों के
ने की सम्भावना है। निहितस्वार्थी लोग संगठनरहित व्यक्ति
शोषण कर सकते हैं; उसकी जरूरतमंदी का दुर्लाभ उठा सकते
उद्दण्ड व अराजकतत्त्व उससे मनमाना काम करवा सकते
।

बहुत से लोग, जिनमें कई विचारक भी हैं, यह सोचा करते हैं
"मनुष्य के लिए संगठन की कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि संगठन
मनुष्य संकुचितता में पड़ जाता है, उसमें तेजोद्वेष, स्वपक्षान्धता
दि दोष घुस जाते हैं। संगठन से व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता खो
ता है, उसे अनिच्छा से संगठन के नियमों व अनुशासन का
यम पालना पड़ता है। इसीलिए संगठन में एक प्रकार की हिंसा
।"

परन्तु यह बात व्यवहारदृष्टि से सत्य नहीं है। यह कौन नहीं
नता कि मनुष्यों के अलग-अलग और बिना किसी नियमन के
च्छन्द रहने से समाज में प्रायः अव्यवस्था, अनेकरूपता, फूट,
च्छृंखलता, और स्वार्थवृत्ति पनपती है, जो अहिंसक-समाज-निर्माण

की खेती करनी चाहिए। संगठन में सुयोग्य व्यक्तियों को ही लिया जाय तथा प्रविष्ट होने वाला व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठा और स्वपरहितकामना से प्रविष्ट होता हो तो नियमोपनियम या अनुशासन उसके लिए भाररूप नहीं होंगे। बल्कि स्वेच्छा से वह उन्हें स्वीकारेगा और पालेगा। वैसे भी देखा जाय तो मनुष्य जन्म से ही कुटुम्ब के संगठन में प्रविष्ट हो जाता है, फिर ग्राम, नगर, प्रान्त या राष्ट्र के रूप में समाज के संगठन में प्रविष्ट होता है, तब उसे किसी न किसी अनुशासन, नियम व मर्यादा में रहना ही पड़ता है। अतः सुसंगठन सभी दृष्टियों से आवश्यक है।

विचारक्रान्ति (विचार-परिवर्तन) भी संगठन न होने के कारण निष्फल जाती है, वह सर्वांगीक्रान्ति नहीं बनती। विचार-प्रचार या विचारक्रान्ति सोते हुए समाज को क्रान्ति का बिगुल सुनाने में सफल हो सकती है। आबालवृद्ध-वनिता को वह क्रान्ति का स्वप्न दिखा सकती है, परन्तु स्वयं क्रान्ति नहीं कर सकती; यानी समाज को बदल नहीं सकती; परिस्थिति-परिवर्तन नहीं कर सकती। विचारक्रान्ति प्रकाश की किरणें फैला सकती है, जागृति कर सकती है। पर जगा देने के अनन्तर वह कुछ भी नहीं कर सकती। हम बहुतों को आह्वान करें, बहुत बड़ी भीड़ को इकट्ठी कर लें, कान्फ्रेंसों या सम्मेलनों में स्पीचें झाड़ दें, समाचारपत्रों में वक्तव्य निकाल दें फिर देखें तो मालूम होगा सारा ही समाजरूपी खेत बिना पेड़-पौधे उगे साफ व सूखा पड़ा है, क्योंकि हमने विचारक्रान्ति का बीज बोकर उसे संगठन-रूपी जल से सींचा नहीं। वह बीज बेकार गया। संगठन के न होने पर हम चाहे जितना चिल्ला-चिल्ला कर गला फाड़ें, लिखते-लिखते लेखनी घिस डालें, लेकिन क्रान्ति की चिनगारियाँ नहीं बिखेर सकते; समाज में परिस्थिति-परिवर्तन करके समाज का निर्माण नहीं कर सकते।

चुका है कि अकेले व्यक्ति से सर्वांगीकान्ति नहीं हो सकती; वैसे यह भी सत्य है कि अकेली एक संस्था (संगठन) से भी आज सर्वांगीक्रांति नहीं हो सकती। इसी प्रकार प्रवचन, उत्सव, मेले या व्यापार के निमित्त से अलग-अलग व्यक्ति इकट्ठे हो जांय, उसे संगठन नहीं कहा जा सकता और न अनघड़ व्यक्तियों की अधिक संख्या को ही संगठन या संस्था कही जा सकती है इससे आगे बढ़ कर यों कहा जा सकता है कि अस्पष्ट विचार, संकीर्ण दृष्टि या निहितस्वार्थी कार्यों वाले लोगों का एकत्रित हो जाना भी सुसंस्था या सुसंगठन नहीं है। इसे सिर्फ टोला, गिरोह या झुण्ड कहा जा सकता है।

चार ही संगठन प्रयोगमान्य क्यों ?

पहले कहा जा चुका है कि इस विश्व में अलग-अलग शक्तियों, गुणों, स्वभावों, आदतों, कार्यक्षमताओं, योग्यताओं और रुचियों वाले मानव बिखरे पड़े हैं। उन बिखरे हुये विविध गुणवत्ता वाले व्यक्तियों का हमें पृथक्-पृथक् चयन करना होगा और यह जगत् त्रिगुणात्मक है। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण वाले व्यक्ति रहते हैं, रहेंगे। अगर तमोगुणप्रधान व्यक्तियों पर रजोगुणप्रधान संगठन का दबाव या नियन्त्रण तथा रजोगुणप्रधान पर सत्त्वरजोमिश्रित संगठन का दबाव या नियन्त्रण, एवं इस पर भी सत्त्वगुणप्रधान संगठन का दबाव या नियन्त्रण तथैव सत्त्वगुणप्रधान पर गुणातीतलक्षी का दबाव या नियन्त्रण नहीं रखा जायगा तो समाज में सतोगुणी या गुणातीतलक्षी पर तमोगुणी या रजोगुणी हावी हो जाएँगे और वे जगत् की सुव्यवस्था और सुखशान्ति को चौपट कर देंगे। इसी कारण धर्ममय समाजरचना के लिए चारों प्रकार के गुणों वाले चार संगठन अनिवार्य माने गये हैं। जो व्यक्ति रजोगुणप्रधान होंगे, वे न्याय और सुरक्षा के लिए प्राण देकर भी डटे रहेंगे। उनकी शारीरिक शक्ति भी अच्छी होगी और वे

तमोगुणप्रधान लोगों पर दण्डशक्ति का अंकुश रखेंगे। इन्हें एक संगठन (राज्यसंस्था) में आबद्ध करना होगा। जो सत्त्वरजोमिश्रितगुणी होंगे। उनके पास शारीरिक (दण्ड) शक्ति की अपेक्षा अर्थशक्ति अधिक होगी; जो रजोगुणी दण्डशक्ति वाले सत्तामद में आकर अपनी धर्म-मर्यादा का अतिक्रमण करेंगे, न्याय के बदले अन्याय करने लगेंगे, इन्हें यह जनशक्तिप्रधान व्यक्ति संगठित होकर रोकने में समर्थ होंगे। इन जनशक्तिप्रधान लोगों को एक संगठन में आबद्ध करना होगा। ऐसे लोगों में श्रमशक्ति, योजनाशक्ति और व्यवहार-कुशलता प्रचुरमात्रा में होगी। इनसे ऊपर उठे हुए कुछ लोग सत्त्व-गुण-प्रधान होंगे, जिनमें तप, त्याग, सेवा की मात्रा अधिक होगी। सर्वांगीण दृष्टि से समाज के विविध अंगों का समुचित विकास हो, समाज की सुव्यवस्था अहिंसक ढंग से टिकी रहे, जनता शिक्षण और संस्कार से परिपूर्ण हो, इस बात का सतत चिन्तन और तदनुसार पुरुषार्थ करना इन नैतिकशक्ति वाले धर्मनिष्ठ जनसेवकों का कर्तव्य होगा। इन गुणों वाले व्यक्तियों को भी एक संगठन में बंधना होगा, और इनसे भी ऊपर उठे हुए कुछ गुणातीतलक्षी व्यक्ति होंगे, जिनमें अध्यात्मनिष्ठा कूट-कूट कर भरी होगी, वे समाज ही नहीं, सारी समष्टि तक के हित का विचार करेंगे। विश्ववात्सल्य को अपनी साधना का मुख्य अंग बनाकर चलेंगे। वे समाज से सांसारिक सम्बन्ध न रखते हुए भी वात्सल्य-सम्बन्ध (अनुबन्ध) अवश्य रखेंगे और प्रत्यक्षरूप से समग्र समाज की नैतिक चौकसी और शुद्धि के लिए जागरूक रहेंगे। इनका संगठन हो या न हो, परन्तु वे भारतीय सन्तपरम्परा से पूर्णतः सम्बद्ध होंगे, कई साधु संस्थाबद्ध होंगे, कई न होंगे तो भी वे साधु-संस्था के मौलिक नियमों का दृढ़ता से पालन करेंगे।

इन चारों का कर्तव्यक्षेत्र भी उत्तरोत्तर विस्तृत होगा और वे अपनी-अपनी शक्ति, का[illegible] में रहते हुए समग्रसमाज

चुका है कि अकेले व्यक्ति से सर्वांगीक्रान्ति नहीं हो सकती; वैसे यह भी सत्य है कि अकेली एक संस्था (संगठन) से भी आज सर्वांगीक्रांति नहीं हो सकती। इसी प्रकार प्रवचन, उत्सव, मेले या व्यापार के निमित्त से अलग-अलग व्यक्ति इकट्ठे हो जांय, उसे संगठन नहीं कहा जा सकता और न अनघड़ व्यक्तियों की अधिक संख्या को ही संगठन या संस्था कही जा सकती है इससे आगे बढ़ कर यों कहा जा सकता है कि अस्पष्ट विचार, संकीर्ण दृष्टि या निहितस्वार्थी कार्यों वाले लोगों का एकत्रित हो जाना भी सुसंस्था या सुसंगठन नहीं है। इसे सिर्फ टोला, गिरोह या झुण्ड कहा जा सकता है।

चार ही संगठन प्रयोगमान्य क्यों ?

पहले कहा जा चुका है कि इस विश्व में अलग-अलग शक्तियों, गुणों, स्वभावों, आदतों, कार्यक्षमताओं, योग्यताओं और रुचियों वाले मानव बिखरे पड़े हैं। उन बिखरे हुये विविध गुणवत्ता वाले व्यक्तियों का हमें पृथक्-पृथक् चयन करना होगा और यह जगत् त्रिगुणात्मक है। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण वाले व्यक्ति रहते हैं, रहेंगे। अगर तमोगुणप्रधान व्यक्तियों पर रजोगुणप्रधान संगठन का दबाव या नियन्त्रण तथा रजोगुणप्रधान पर सत्वरजोमिश्रित संगठन का दबाव या नियन्त्रण, एवं इस पर भी सत्त्वगुणप्रधान संगठन का दबाव या नियन्त्रण तथैव सत्त्वगुणप्रधान पर गुणातीतलक्षी का दबाव या नियन्त्रण नहीं रखा जायगा तो समाज में सतोगुणी या गुणातीतलक्षी पर तमोगुणी या रजोगुणी हावी हो जाएँगे और वे जगत् की सुव्यवस्था और सुखशान्ति को चौपट कर देंगे। इसी कारण धर्ममय समाजरचना के लिए चारों प्रकार के गुणों वाले चार संगठन अनिवार्य माने गये हैं। जो व्यक्ति रजोगुणप्रधान होंगे, वे न्याय और सुरक्षा के लिए प्राण [illegible] भी जुटे रहेंगे। उनकी शारीरिक शक्ति भी अच्छी होगी और वे

तमोगुणप्रधान लोगों पर दण्डशक्ति का अंकुश रखेंगे। उन्हें एक संगठन (राज्यसंस्था) में आबद्ध करना होगा। जो रजस्तमोमिश्रितगुणी होंगे। उनके पास शारीरिक (दण्ड) शक्ति की अपेक्षा जनशक्ति अधिक होगी; जहाँ रजोगुणी दण्डशक्ति वाले मदान्ध में आकर अपनी धर्म-मर्यादा का अतिक्रमण करेंगे, न्याय के बदले अन्याय करने लगेंगे, उन्हें यह जनशक्तिप्रधान व्यक्ति संगठित होकर रोकने में समर्थ होंगे। इन जनशक्तिप्रधान लोगों को एक संगठन में आबद्ध करना होगा। ऐसे लोगों में श्रमशक्ति, योजनाशक्ति और व्यवसाय-कुशलता प्रचुरमात्रा में होगी। इनसे ऊपर उठे हुए कुछ लोग सत्त्व-गुण-प्रधान होंगे, जिनमें तप, त्याग, सेवा की मात्रा अधिक होगी। सर्वांगीणदृष्टि से समाज के विविध अंगों का समुचित विकास हो, समाज की सुव्यवस्था अहिंसक ढंग से टिकी रहे, जनता शिक्षण और संस्कार से परिपूर्ण हो, इस बात का सतत चिन्तन और तदनुसार पुरुषार्थ करना इन नीतिशक्ति वाले धर्मनिष्ठ व्रतबद्धों का कर्त्तव्य होगा। इन गुणों वाले व्यक्तियों को भी एक संगठन में बांधना होगा, और इनसे भी ऊपर उठे हुये कुछ गुणातीतलक्षी व्यक्ति होंगे, जिनमें अध्यात्मनिष्ठा कूट-कूट कर भरी होगी, वे समाज ही नहीं, सारी समष्टि तक के हित का विचार करेंगे। विश्ववात्सल्य को अपनी साधना का मुख्य अंग बनाकर चलेंगे। वे समाज से सांसारिक सम्बन्ध न रखते हुए भी वात्सल्य-सम्बन्ध (अनुबन्ध) अवश्य रखेंगे और प्रत्यक्षरूप से समग्र समाज की नैतिक चौकसी और शुद्धि के लिए जागरूक रहेंगे। इनका संगठन हो या न हो, परन्तु वे भारतीय सन्तपरम्परा से पूर्णतः सम्बद्ध होंगे, कहीं साधु संस्थाबद्ध होंगे, कहीं न होंगे तो भी वे साधु-संस्था के मौलिक नियमों का दृढ़ता से पालन करेंगे।

इन चारों का कर्तव्यक्षेत्र भी उत्तरोत्तर विस्तृत होगा और वे अपनी-अपनी शक्ति, कार्यक्षमता और धर्ममर्यादा में रहते हुए समग्रसमाज

श्रेणी उच्च संतकोटि के साधक-साधिकाओं का समावेश होगा। उत्तर-उत्तर के संगठनों में पूर्व-पूर्व संगठन की गुणवत्ता यानी न्याय-नीति-धर्मनिष्ठा तो क्रमशः होगी ही।

चारों संगठनों की आवश्यकता

उक्त चारों संगठनों में से अकेले जनसंगठन ही रहें तो वे सारे विश्व तक नहीं पहुँच सकेंगे और न वे अकेले स्वयं विश्व की राजनीति को शुद्ध कर सकेंगे और न ही विश्व में सारी मानवजाति के विविध क्षेत्रों में धर्म; न्याय, नीति को ही वे प्रविष्ट करा सकेंगे। न अकेली राज्यसंस्था (राष्ट्रीय महासभा) भी पूर्वोक्त बातों को करने में समर्थ हो सकती है। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजनीति की शुद्धि के लिए भी उसे जनसंगठनों के सहयोग की आवश्यकता रहेगी; ताकि वे उसे मतों से निश्चिन्त कर दें; सिद्धान्त से न डिगने दें और जनसेवक-संगठन की मदद से उसे शुद्ध रखें; यानी वे राष्ट्रीय महासभा के पूरक बन सकें। इसी प्रकार न अकेले जनसेवकसंगठन ही ऐसा कर सकते हैं; क्योंकि विश्व के सभी स्तर के मानवों में न्याय, नीति, धर्म का प्रवेश कराने; अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजनीति की शुद्धि के लिए, और अपनी शुद्धि, सावधानी एवं मार्गदर्शन के लिए क्रमशः जनसंस्था, राज्यसंस्था और साधुवर्ग के सहयोग की उन्हें जरूरत रहेगी। राज्यशक्ति की अपेक्षा लोकशक्ति को बढ़ावा देने के लिये एवं राज्यसंगठन को शुद्ध और नियन्त्रित रखने के लिए भी उसे जनसंस्था; राज्यसंस्था और साधुवर्ग के साथ अनुबन्ध रखना पड़ेगा। अकेले क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग से [illegible] सारे कार्य सम्पन्न नहीं हो सकेंगे, क्योंकि जब तक वे परिस्थितिपरिवर्तन नहीं कर देंगे तब तक धर्ममय समाज प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा। परिस्थितिपरिवर्तन के हेतु उन्हें जनता और जनसेवकों के [illegible] बिना कोई चारा नहीं। राज्यसंस्था पर नैतिक अंकुश [illegible] साधुओं के बूते की बात नहीं।

राज्यसंस्था और साधुवर्ग दोनों मिलकर भी पूर्वोक्त कार्य सम्पन्न नहीं कर सकेंगे, क्योंकि साधुवर्ग के काबू में कोई सुघटित जनसंगठन न होने से वह राज्यसंस्था पर जनसंस्था द्वारा अंकुश नहीं रखा सकेगा, साथ ही राज्यसंस्था भी निरंकुश होने से साधुवर्ग को सुख-सुविधाएँ, पद-प्रतिष्ठा आदि प्रलोभन देकर अपने आश्रित या वश में कर लेगी और दूसरी ओर से उस पर कोई रोकटोक न होने से तथा साधुवर्ग द्वारा सही मार्गदर्शन न दिये जाने से वह सत्ता और सम्पत्ति के मद में मतवाली होकर प्रजा (जनता) पर बेखटके अन्याय-अत्याचार करने लगेगी। उधर साधुवर्ग सुखशील और आरामपरस्त होकर अपने उत्तरदायित्व से रहित होकर साधनाहीन जीवन विताने लगेगा। तब फिर धर्ममय समाजरचना कैसे हो सकेगी? वर्षों पूर्व रोम में पोपों और सम्राटों का यही हाल हुआ था। वहाँ राज्यसंस्था की ओर से सुख-सुविधा और प्रश्रय पाकर पोप सुखसुविधाओं और मौजशौक में फंस गए थे। सरकार पर जनता द्वारा धर्मगुरुओं का नैतिक अंकुश न होने से वह भी निरंकुश होकर प्रजा पर और सच्चे प्रजाहितैषियों पर जुल्म ढहाने लगी। फलतः दोनों निरंकुश होकर मनमानी करने लगे।

राज्यसंगठन और जनसेवकसंगठन मिलकर भी यह भगीरथ कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि जनसेवकों के हाथ में जनसंगठन न हो तो वे राज्यसंस्था पर अंकुश व प्रभाव नहीं रख सकेंगे और न उसकी शुद्धि ही कर सकेंगे। तथा गलत कामों से भी वे उसे रोक न सकेंगे। उलटे राज्यसंस्था कई बार ऐसे समाजहितैषी; या समाजसुधारकों को प्रलोभन देकर अपनी मुट्ठी में कर लेती है या वह जनसंगठनपृष्ठबलरहित उन जनसेवकों पर चढ़ बैठती है। ग्रीस और एथेंस में प्लेटो और सुकरात जैसे कई लोकहितैषी विचारक हुए थे। जनसंस्था उनके हाथ में नहीं थी। वे स्वतन्त्रविचारक के रूप में अकेले ही जनता को जनहितकारी सच्ची बातें निर्भीक होकर सुनाते थे। किन्तु उस समय की सरकार

नैतिक अंकुश भी प्रचलित व मान्य कराना होगा। अर्थात् इन संगठनों को क्रमशः मूल, पूरक, प्रेरक और मार्गदर्शन का दायित्व भी सौंपना होगा। तभी इन चारों सुसंगठनों से समाज (धर्ममय) बनेगा। और तभी प्रस्तुत चारों संगठनों द्वारा समग्रसमाज का एवं समाज के मुख्य-मुख्य सभी अंगों और क्षेत्रों का भी स्पर्श हो सकेगा, यानी सारे समाज का समावेश इन चारों संगठनों में हो सकेगा। यद्यपि तामसिक (तमोगुणप्रधान) उद्दण्ड, अराजकतत्त्वों का (उनके सुधरे या बदले बिना) इन संगठनों में प्रवेश या समावेश नहीं हो सकेगा; क्योंकि वर्तमान में वे असामाजिक हैं, समाजबाह्यसमान हैं; परन्तु राज्यसंस्था द्वारा उन पर डाले गये दण्डशक्ति के दबाव और अंकुश से उन्हें भी सुधरने और बदलने को बाध्य होना पड़ेगा। इस तरह प्रकारान्तर से उन तत्त्वों का भी स्पर्श प्रस्तुत संगठन-चतुष्टय द्वारा हो जाता है। और तामसिक तत्त्वों सहित समस्त समाज के यथायोग्य जीवननिर्माण में चारों संगठनों की अपनी-अपनी जगह उपयोगिता है और रहेगी। सब पर नैतिक अंकुश या विविध दबाव किस प्रकार रखा जा सकेगा? इसका उत्तर आंशिक-रूप से तो हम 'समाजरचना के सर्वांगीणरूप' के प्रकरण में दे आए हैं। विशेष विवेचन प्रयोग के द्वितीय अंग-'अनुबन्ध' के प्रकरण में किया जायगा।

चारों संगठनों के पीछे दृष्टि

चूंकि यह प्रयोग 'धर्ममय समाजरचना' का है। न्याय और नीति भी शुद्ध धर्म के अंग हैं। इसलिए धर्म के अन्तर्गत न्यायनिष्ठा भी आती है, नीतिनिष्ठा भी और व्रताचरणरूप धर्मनिष्ठा भी। इस कारण पूर्वोक्त चारों संगठनों में धर्मदृष्टि तो मुख्यतया रहेगी ही और ध्येय भी विश्वविशाल एवं सर्वांगी, सर्वक्षेत्रस्पर्शी विश्ववात्सल्य रहेगा। इसलिए प्रयोगमान्य संगठनों के पीछे केवल आर्थिक, भौतिक

या साम्प्रदायिक दृष्टि कदापि नहीं हो सकती। न ये संगठन किसी एक जाति, कौम, धर्म-सम्प्रदाय—विशेष के ही होंगे और न इनमें जातीयता, कौमवाद, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता या भाषावाद को ही प्रश्रय दिया जायगा। न ये संगठन हिंसक—संघर्षमूलक ही होंगे, और न कठोर अनुशासनमूलक ही होंगे, जिनमें एक व्यक्ति की तानाशाही के नीचे सारी जमात चले। और न सैनिकों और सर्कस के जानवरों की तरह आतंक या भयमूलक ही ये संगठन होंगे। दूध और शक्कर की तरह या कौटुम्बिकता के रिश्ते-नाते की तरह ये संगठन परस्पर प्रेम, त्याग, समर्पण, सहानुभूति, सहयोग, सेवा, उदारता और व्यापकता आदि तत्त्वों पर आधारित होंगे।

संगठनों के मूल्याङ्कन की ५ कसौटियाँ

संगठनों के मूल्याङ्कन करने की मुख्यतः ५ कसौटियाँ हैं—
(१) मूलप्रेरणा, (२) क्षेत्रविस्तार, (३) विकास का अवसर, (४) उद्देश्य की पवित्रता और (५) संगठन का प्रकार।

संगठन के पीछे मूलप्रेरणा जितनी उदात्त और उन्नत होगी, उसका प्रेरकबल जितना उदाराशय होगा, व्यापकदृष्टि और ध्येय वाला होगा, उतनी ही वह मूलप्रेरणा संगठनों को उदात्त, उदार और उन्नत बनाएगी। प्रस्तुत संगठनों के पीछे मूलप्रेरणा धर्मदृष्टि से समाज-निर्माण की है, और ध्येय भी विश्ववात्सल्य है। इनमें आक्रामक संगठनों की तरह लोभ, हिंसात्मक संघर्ष या प्रतिहिंसा की प्रेरणा नहीं है, और न संकटकालीन संगठनों की तरह भय, आतंक आदि द्वारा आत्मरक्षा की प्रेरणा है, न आत्मविकासलक्षी धार्मिक संगठनों की तरह केवल प्रचार-प्रसार, संख्यावृद्धि, मिथ्यागर्व—अहंकार-पोषण, दूसरे संगठनों के साथ मिथ्या प्रतिस्पर्धा या कलह की प्रेरणा वाले

ये संगठन हैं, बल्कि समग्रसमाज-विकासलक्षी, या शुद्धनीति-धर्मदृष्टि से जीवननिर्माणलक्षी मूलप्रेरणा को लेकर ये चलेंगे।

इन संगठनों का क्षेत्रविस्तार विश्वव्यापक होगा। यानी ये किसी एक ही जाति, कुल, कौम, धर्म-सम्प्रदाय या प्रान्त, राष्ट्र की बपौती या एकाधिकार में सीमित नहीं होंगे। हाँ, इनके कर्तव्यक्षेत्र का दायरा प्रयोगकर्ता की सुविधा के अनुसार कोई भूभाग अवश्य होगा, परन्तु वैचारिक दृष्टि से इन संगठनों में सभी तद्योग्य मनुष्यों के लिए प्रवेशद्वार खुला है। और इन संगठनों का व्यापार, श्रम, आदि व्यवसायों या कार्यों की दृष्टि से तथा क्षेत्रविस्तार सारे भारत में या अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र में मजदूरों के संगठनों की तरह होने पर भी ये दूसरों को लूटने, सत्ता हथियाने, वर्गसंघर्ष पैदा करने आदि के लिए नहीं, परन्तु सारी मानवजाति को न्याय मिले, प्रेम मिले, और सत्य पाकर वह दूसरों के लिए त्याग करना सीखे; इस प्रकार के लाभ के लिए ये होंगे।

संगठन के मूल्यांकन की तीसरी कसौटी है—विकास का अवसर। संगठन जब कठोर-अनुशासनपूर्ण या आतङ्कपूर्ण हो जाता है तो व्यक्ति को विकास का, सुधरने का, कदाचित् पतन, दोष, अपराध, त्रुटि या भूल हो जाय तो उसे निःशंक-निःसंकोच व्यक्त कर देने और इकरार करने का अवसर नहीं दिया जाता और कभी-कभी तो मर्यादाओं या परम्पराओं का नाम लेकर या मिथ्यात्व लग जाने या उक्त धार्मिक संगठन की अप्रतिष्ठा हो जाने का डर बताकर व्यक्ति को स्वतंत्ररूप से विचार करने, उसका समाधान करने, उसकी कठिनाइयां और उलझनों या उसे अपनी भूल को प्रगट करने का अवसर नहीं दिया जाता। फलतः संगठनस्थ व्यक्ति की वास्तविक प्रगति रुक जाती है। प्रस्तुत संगठनों में ऐसा कोई रोग नहीं है। बल्कि यहाँ तो व्यक्ति

प्रशिक्षित करके ग्रामादि की रक्षा के लिये नियुक्त किया; जो क्षत्रिय कहलाए। विभिन्न विद्याओं, कलाओं एवं शिल्पों द्वारा विविध वस्तुओं का उत्पादन (अन्नादि के सिवाय) करके समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने और सुख-सुविधाओं की वृद्धि के लिए एक वर्ग को प्रशिक्षित किया। जो 'शूद्र' कहलाता था। फिर भी कई लोगों को सन्तोष न होता। वे परिवार व समाज में क्लेश करते, समाज के नीति-नियमों का उल्लंघन करते, मनमाना करते; इसके लिए उन्हें धर्मसंस्कार और शिक्षण देने तथा देशकालानुसार सामाजिक नियम बनाने वालों का अभाव था। पहले तो उन्होंने स्वयं ही इस वर्ग का काम चलाया; परन्तु बाद में एक वर्ग स्थापित किया, जिसका नाम रखा—ब्राह्मणवर्ग। उस पर समाज के संचालन की सबसे अधिक जिम्मेवारी डाली गई। साथ ही समाज की सेवा व भलाई के लिए वह अध्ययन-मनन करता-कराता, जीवन सुखशान्तिपूर्वक जीने के लिए विद्याएँ-कलाएँ भी सिखाता, तालीम के साथ-साथ वह धर्म के संस्कार भी डालता था। वह स्वयं निःस्पृह, समाजाश्रित, व निर्लेप रह कर अल्पाति-अल्प साधनों से अपना व कुटुम्ब का जीवननिर्वाह कर लेता था और समग्र समाज को नैतिक प्रेरणा देता था। तीनों वर्णों में से कोई उलटे रास्ते जाता, नीति-धर्म-विरुद्ध काम करता तो वह उसे रोकता और तब भी नहीं मानता तो उस पर सामाजिक दबाव डालता। यदि इतने पर भी नहीं मानता और उच्छृंखलता करता तो फिर दण्डशक्ति द्वारा उस पर अंकुश लगवाता। क्षत्रियवर्ण का व्यक्ति निरंकुश होकर अन्याय-अत्याचार करता तो उस पर महाजन (वैश्य-शूद्रवर्ण) का सामाजिक अंकुश लाता और राजगद्दी से भी उतार देता। वैश्य-शूद्रवर्ण का व्यक्ति भी स्वधर्म-विरुद्ध काम करता तो उसे रोकता और न मानने पर सामाजिक-नैतिक दबाव लाकर उसे ठिकाने लाता। अगर ब्राह्मणवर्ण भी अपने कर्तव्य से च्युत होता,

[illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] और [illegible]
इस प्रकार चारों ही वर्णों का धर्म था — [illegible] के पालन, पोषण
रक्षण एवं सन्तसंशोधन ([illegible]) के लिए, [illegible] के [illegible]
एवं निर्माण के लिए योग्यतानुसार, श्रम और पराक्रम ([illegible]
के अनुसार पुरुषार्थ करना। अपनी-अपनी मर्यादाओं में चारों
वर्णों को न्याय, नीति, धर्म की शिक्षा और रक्षा [illegible]
इस चातुर्वर्ण्यसमाज से ऊपर उठे हुए जो ऋषि-मुनि-साधु-संत होते
वे सारे समाज को मार्गदर्शन देते, नैतिक [illegible] रखते। इस
प्रकार 'धर्मदृष्टि से चातुर्वर्ण्य समाजव्यवस्था' थी। इस समा
चारों ही वर्णों और वर्णातीत ऋषिमुनियों का ध्येय था—समग्र समा
में वात्सल्य, सहयोग, सहानुभूति, सेवाभाव एवं प्रेमभाव बढ़ाना
इन चारों वर्णों में कोई ऊँचा या नीचा नहीं था, कोई अस्पृश्य नहीं
था, किसी के लिए कोई घृणापात्र, शोषित या पददलित न था
सब अपनी-अपनी जगह योग्य थे। एक के बिना दूसरे का काम
चल नहीं सकता था। सचमुच उस समय की भारतीय समाज
व्यवस्था कितनी सुन्दर, योजनाबद्ध और मंगलमयी थी! ऋषिमुनियों
ने इस समाज की हर एक प्रवृत्ति के साथ 'धर्म' को जोड़ा था
धर्माधर्म का निर्णय किये बिना कोई भी कार्य नहीं किया जाता था
यद्यपि धर्म-पालन-मर्यादाएँ भी चारों वर्णों की योग्यतानुसार भिन्न
भिन्न थीं। और वे स्वाभाविक थीं। यही कारण था कि भारतीय
समाज-रचना की यह धर्मानुप्राणित प्रणाली इस राष्ट्र के लिए हजारों
वर्षों तक उपयोगी सिद्ध हुई। हमारी चतुःसंगठनात्मक समाज
व्यवस्था-प्रणाली का मूलस्रोत तो यही भारतीय प्रणाली है। इसी के
मूलतत्त्व इस नई प्रणाली में निहित हैं।

ायनीतिपूर्वक श्रम करके, धर्मपूर्वक अपनी आजीविका चलाता
े नीच, हीन, अछूत कह कर समाज में श्रम और श्रमिकों की
ा घटा दी। फलतः जो गन्दगी फैलाये वह ऊंचा, और जो
साफ करे वह नीचा; जो चमड़े की चीजों का इस्तेमाल करे
चा, और जो इन्हें बनाए वह नीचा; जो कपड़े सीने लाकर
ने वह ऊंचा और जो इन्हें बुने वह नीचा; पशुपालन या खेती
ह नीचा और जो दूध, घी, अनाज आदि सीधा लाकर खाए-पीए
ंचा; इस प्रकार की खोटी मान्यता समाज में चल पड़ी। इससे
जो श्रम करके न्याय-नीतिपूर्वक धन्धे जीविका कमाता था, उसे
और उसके कार्य को पाप माना जाने लगा और जो गद्दे तकियों
ठे-बैठे हुक्म चलाते, खाते-पीते और बिना श्रम किये दूसरों की
ा पर गुलछर्रे उड़ाते, उन्हें पुण्यवान और उनके शोषणयुक्त व
यपूर्ण कार्य को धर्म या पुण्य कहा जाने लगा। इस प्रकार श्रम-
यों की कद्र कम होने लगी। श्रम करने वालों को गुलाम, मजदूर,
-चाकर या नीची कोटि का समझा जाने लगा; जिनके सहयोग के
उन तथाकथित पुण्यवानों का काम एक दिन भी नहीं चल
ा था। सचमुच ब्राह्मणों ने इस गलत मूल्य का समर्थन करके
जनता में नीति, न्याय और धर्म के मूल्यों को चौपट कर दिया
अतः शूद्रवर्ग में भी हीनभावना, बेगारी और श्रमचोरी की भावना
ड़ जमाली, वह भी अपने-अपने धन्धे में श्रमदृष्टि भूल बैठा।
ंस्कार न मिलने के कारण शूद्रवर्ग में भी खान-पान व रहन-सहन
न्धी कई विकृतियाँ घुस गईं। इस प्रकार चारों ही वर्णों में विकृति
गई। धर्म की जगह प्रायः धन, सत्ता और विलासिता (काम) ने
ी। धर्मगुरुओं ने भी सभी वर्णों से अनुबन्ध तोड़ दिया, अपनी
मेदारी से भागे और समाज के चारों ही वर्णों में चल रहे अनिष्टों
ति आँखें मूंद लीं। उन्हें अपनी पूजा-प्रतिष्ठा का ख्याल रहा।

प्रेरणा—व मार्गदर्शन देने, शुद्धि करने एवं नैतिक पहरेदारी रखने का क्रान्तिप्रिय संत का काम किया।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की संस्थाओं में वे न्याय, नीति और शुद्ध-धर्म का सतत सिञ्चन करते रहते थे। उन-उन संस्थाओं में उस-उस गुण-कर्म की योग्यता, और कार्यक्षमता वाले किशोरलाल मश्रुवाला, काका कालेलकर, विनोबाजी (नये ब्राह्मण); जमनालालजी बजाज, राधाकृष्ण बजाज, जाजूजी आदि (नव वैश्य); पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, कृपलानीजी (नवक्षत्रियसंस्था–काँग्रेस) और ठक्कर बापा (नवशूद्र–सेवकसंस्था) आदि व्यक्तियों को जोड़ कर गाँधीजी ने भारतीय समाज (संगठन) का धर्मपुनीत सर्वांग–निर्माण किया था। उनकी भावना थी कि भारतीय संस्कृति के उत्तमगुणों से पोषित यह भारतीय समाज या भारतराष्ट्र सारे विश्व को राह दिखाए और समग्र मानव-समाज को मार्गदर्शक बनकर ऊँचा उठाए। वर्तमानयुग को इसी प्रकार के धर्ममय समाज (संगठन) की जरूरत है। इसी से प्रेरित होकर क्रान्तिप्रिय मुनिश्री संतबालजी ने गुजरात में इस प्रकार के प्रयोगमान्य चार संगठनों के माध्यम से धर्ममय समाजरचना का प्रयोग प्रत्यक्ष करके बताया है।

जनसंगठन

प्रस्तुत प्रयोग की सफलता का सारा दारोमदार जनसंगठन के भलीभांति निर्माण पर है। क्योंकि एक तो, चारों संगठनों में से सबसे अधिक जनसंख्या का समावेश 'जनसंगठन' में होगा। इसलिए प्रयोग के सामने सर्वप्रथम भगीरथ काम इसको यथायोग्य उपसंगठनों में विभक्त करके उनका नीतिधर्म की दृष्टि से निर्माण करना है। दूसरे, जनता में न्याय, नीति, अहिंसा, सत्य का विकास दबा हुआ है, दण्डशक्ति, भयशक्ति और अन्यायी शक्ति के चंगुल में जनबल

फंसा हुआ है। नीचे इनके विविध समाधानों के साथ संक्षेप में निरूपण किया जा सकता है।

आज सामान्य जनता के सामने पहली समस्या यह है कि किसान, श्रमजीवी, पशुपालक, व्यापारी, नौकरीपेशा, शिक्षक, पंडित और धर्मसाधक आदि सभी जनवर्ग प्रायः सरकार के अधीन हो गए हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, आदि सभी क्षेत्रों पर सरकार की पकड़ बढ़ती जा रही है। इसके कारण जनता परेशान है। दण्डशक्ति का जोर बढ़ता जा रहा है। नौकरशाही और लालफीताशाही पनपती जाती है। सरकारी कर्मचारी-अधिकारी, नेता आदि प्रायः रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, गबन, आदि करके जनता को हैरान करते रहते हैं। इसे रोकना अकेले एक या अनेक सामान्य जनों (भले ही वह कितने ही नीतिन्यायपरायण हों), के बस की बात नहीं है।

दूसरी समस्या है—स्वयं जनता के विविध वर्गों—विविध प्रकार के व्यापारियों, नौकरीपेशेवालों, कलकारखानेदारों, श्रमजीवियों, यन्त्र-मजदूरों आदि में भी शोषण, अन्याय, अनीति, बेईमानी, भ्रष्टाचार, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, टैक्सचोरी, रिश्वत-प्रदान, तोलमाप में गड़बड़ी, मिलावट आदि अधर्म पनप रहे हैं। इन्हें रोकना अकेले सरकार के बलबूते से परे है। सरकार के पास इन्हें हटाने के उपाय, कानून और सजा है। जो चालाक होते हैं, वे कानून की पकड़ में नहीं आते हैं, बेचारे निर्दोष प्रायः मारे जाते हैं। सरकार जिन बुराइयों को हटाने के लिए कानून बनाती है, दंड नियत करती है, वे बुराइयाँ कदाचित् थोड़े समय के लिए दब भले ही जांय, पर गुप्तरूप से चलती रहती हैं। कभी-कभी छोटे व्यापारी पकड़े जाते हैं और बड़े व्यापारी या उद्योगपति रिश्वत आदि देकर बच जाते हैं। इससे

सरकारी कर्मचारियों में घूंसखोरी बढ़ती है। वे जनता से घूंस खाने के लिए अनेक हथकंडे अजमाते हैं। इस प्रकार जनता के पल्ले न तो अर्थ ही पड़ता है, न धर्म। अतः कानून बना देने मात्र से जनता के संस्कारों में नीति और धर्म नहीं आ जाता और कानून का सही अमल कराना भी सरकार के हाथ की बात नहीं। उसमें भी वकीलों के दावपेंच चलते हैं। इसलिए जनता का विकास, नैतिक अंकुश, शुद्धि आदि की समस्या तथा नीति-धर्म के संस्कारों द्वारा उसके निर्माण करने की समस्या तो उलझी ही रहती है।

तीसरी समस्या है—लोकशक्ति को जागृत करने की। लोकसेवक लोकशक्ति जगाने की रट लगा रहे हैं। पर लोकशक्ति की जागृति के लिए जो सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र की संस्थाएँ पंचायत एवं सहकारी सोसाइटियां हैं, वे तो सरकारी हस्तक्षेप या चंगुल से मुक्त नहीं हैं। उनमें लोकशक्ति का 'लोक' दबा हुआ है। साथ ही शिक्षण और संस्कृति का क्षेत्र जो लोकशक्ति के विकास के लिए है, वह भी राज्य-शक्ति के प्रभुत्त्व के नीचे दबा हुआ है। तब लोकशक्ति कैसे जागृत हो? ग्रामों और शहरों में किसानों, श्रमजीवियों और मध्यमवर्गीय लोगों का शोषण बुद्धि, धन और सत्ता द्वारा किया जा रहा है; उन्हें थोड़े-से राहत के टुकड़े—(भूमि-साधन-धन के) फैंक देने मात्र से उन्हें न्याय नहीं मिल जाता। अन्याय-अत्याचार को या तो असंगठित जनता चुपचाप सह लेती है या फिर प्रतिशोध की भावना से उत्तेजित होकर हत्या, लूट, दंगे आदि करने पर उतारू हो जाती है। न्याय उनके सामने हाथ जोड़ने से भी नहीं मिलेगा। वह तो अहिंसक प्रतीकार द्वारा ही प्राप्त होगा। तब तक लोकशक्ति सोई रहेगी। और यह समस्या हल नहीं होगी।

चौथी समस्या है—जनता के अन्तरङ्ग और बाह्य निर्माण की।

देने की वृत्ति भी उनमें होती है। इसलिए गाँवों की प्रकृति में धर्मतत्त्व बहुत जल्दी पच सकता है। और हमें धर्मदृष्टि से समाजरचना करनी है, इसलिए गाँवों का नैतिक संगठन सर्वप्रथम जरूरी है। शहरों के लोग प्रायः आरामतलब एवं बुद्धिजीवी होने से सच्चे धर्म को वे सीधे व झटपट जीवन में उतारने को तैयार नहीं होते।

तीसरा कारण है—जमीन पर किसी की चीज को पैदा करने के लिए प्रकृति, ईश्वर या किसी अव्यक्तशक्ति पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। गांवों के लोग अधिकतर कृषिजीवी होने से उन्हें बरसात, हवा, पानी, धूप या टिड्डी आदि से निरुपद्रवता की अनुकूलता का रातदिन ध्यान रखना होता है, तभी (प्रकृति या अव्यक्तबल अनुकूल होने पर ही) एक दाने से हजार दाने पैदा हो सकते हैं। इस दृष्टि से गांव प्रकृति, अव्यक्तशक्ति या ईश्वर पर अधिक श्रद्धालु होते हैं। और धर्ममय समाजरचना में प्रकृति या अव्यक्तबल पर निष्ठा जरूरी होती है। इसलिए सर्वप्रथम ग्राम-संगठनों का होना आवश्यक है।

चौथा कारण है—भारतीय संस्कृति के दर्शन गांवों में ही हो सकते हैं; क्योंकि शहरों में तो मिलीजुली संस्कृति या विकृतसंस्कृति के ही प्रायः दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति के मुख्य तत्त्व—प्रकृति-निष्ठा, श्रमशीलता, सादगी, शील, कौटुम्बिकता, लोकभाषा के प्रति आदर, गोमाता के प्रति श्रद्धा आदि हैं और ये अधिकांशरूप से गांवों में ही पाये जाते हैं। और यह बात निर्विवाद है कि भारतीय संस्कृति का धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः धर्ममय समाजरचना करनी हो तो भारतीय संस्कृति के अग्रदूत ग्रामों का संगठन करना चाहिए।

पांचवां कारण है—समाज के जीवन का धारण-पोषण करने के लिए अन्न, वस्त्र, आवास आदि प्राथमिक आवश्यकताओं की

पूर्ति भारत के गांव करते हैं; क्योंकि इन तीनों चीजों का उत्पादन करने वाली जमीन गांवों में है। शहरों की जमीन पर बड़ी-बड़ी इमारतें या कल-कारखाने खड़े होते हैं। परन्तु आज जीवनोपयोगी आवश्यक चीजों के इन मालिक-उत्पादकों की स्थिति बड़ी दयनीय है। शहरों में तो विभिन्न संगठन आर्थिक दृष्टि से बने हुए हैं। गांवों के असंगठित होने व अपने-अपने तुच्छ स्वार्थ को महत्त्व देने के कारण शहर कच्चे माल के रूप में गांवों का अधिकांश धनाहरण कर ले जाते हैं। उन्हें अपने श्रम का पूरा मुआवजा नहीं मिलता। और न उचित भाव में ही उनका माल खरीदा जाता है। इस प्रकार शहर के व्यापारियों, दलालों, आढ़तियों और कल-कारखाने वाले पूंजीपतियों द्वारा गांवों का शोषण; कम भाव में खरीद, दलाली, कमीशन, ब्याज, मुनाफाखोरी आदि के रूप में होता है। गांवों के श्रमजीवियों को भी शहर के कल-कारखाने वाले खींच कर उनका श्रम कम मूल्य में खरीद लेते हैं; उन पर हुकूमत जमाई जाती है, सो अलग। इस प्रकार गांवों के उत्पादकों और श्रमजीवियों को उनके द्वारा उत्पादित वस्तु का यथायोग्य वितरण, संरक्षण हो सके, उन्हें उचित भाव व सस्ता न्याय मिल सके, हक की रोजी मिल सके तथा उनका शोषण और शासन दूर हो सके; इसके लिए सर्वप्रथम ग्रामों का संगठन करना जरूरी है।

छठा कारण है—गांवों का उद्धार ग्रामसंगठन के बिना नहीं हो सकता और गांवों के उद्धार के बिना; दूसरे शब्दों में कहें तो, गांवों को जिलाए और धर्मदृष्टि से सुरक्षित किये बिना भारत का उद्धार नहीं हो सकता। क्योंकि भारत अधिकांश गांवों का ही देश है। गांव आज उपर्युक्त कारणों से टूट रहे हैं; शहरों की आबादी और समृद्धि बढ़ रही है। ग्रामसंगठन होने पर गांवों के कच्चे माल का रूपान्तर प्रायः ग्रामों में ही होने से बेरोजगारी मिटेगी। शहरों

देने की वृत्ति भी उनमें होती है। इसलिए गाँवों की प्रकृति में धर्मतत्त्व बहुत जल्दी पच सकता है। और हमें धर्मदृष्टि से समाजरचना करनी है, इसलिए गाँवों का नैतिक संगठन सर्वप्रथम जरूरी है। शहरों के लोग प्रायः आरामतलब एवं बुद्धिजीवी होने से सच्चे धर्म को वे [illegible] न कष्टमय जीवन में उतारने को तैयार नहीं होते।

तीसरा कारण है—जमीन पर किसी भी चीज को पैदा करने के लिए प्रकृति, ईश्वर या किसी अव्यक्तशक्ति पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। गाँवों के लोग अधिकतर कृषिजीवी होने से उन्हें बरसात, हवा, पानी, धूप या टिड्डी आदि से निरुपद्रवता की अनुकूलता का [illegible] ध्यान रखना होता है, तभी (प्रकृति या अव्यक्तबल अनुकूल होने पर ही) एक दाने से हजार दाने पैदा हो सकते हैं। इस दृष्टि से गाँव प्रकृति, अव्यक्तशक्ति या ईश्वर पर अधिक श्रद्धालु होते हैं। और धर्ममय समाजरचना में प्रकृति या अव्यक्तबल पर निष्ठा जरूरी [illegible] है। इसलिए सर्वप्रथम ग्राम संगठनों का होना आवश्यक है।

[illegible] कारण है—भारतीय संस्कृति के दर्शन गाँवों में ही हो सकते हैं। [illegible] में तो मिली-जुली संस्कृति या विकृतसंस्कृति [illegible] है। भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व—प्रकृति-[illegible], श्रद्धा, [illegible], लोकभाषा के प्रति [illegible] आदि हैं और वे [illegible] में गाँवों [illegible] है कि भारतीय संस्कृति [illegible] धर्ममय समाजरचना [illegible] ग्रामों का संगठन करना [illegible]

[illegible]

चारों में से गांवों में अधिकतम जनसंख्या अवश्य है, पर वह आज बिखरी हुई होने से घड़ी हुई नहीं है और प्राय: अपने ही परिवार तक की सोचती है। श्रम का तत्त्व भी ग्रामीणजनों में है, पर वह लाचारी के रूप में पाया जाता है, निष्ठा के रूप में नहीं। संस्कृतितत्त्व भी मौजूद हैं, लेकिन ग्रामीण जनता उनसे अनभिज्ञ है और तेजी से प्रविष्ट होते जा रहे शहरी भौतिकवादी विकृति के तत्त्वों से वह उन्हें बचा नहीं पाती। जीवनोपयोगी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली चीजें तो गांव में पैदा होती हैं, पर उनके उत्पादकों को पूरे भाव न मिलने, यथोचित न्याय प्राप्त न होने से उनमें उत्साह नहीं है। उपर्युक्त चारों चीजों की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा ग्रामों के संगठित होने पर ही हो सकती है। अतः लोकतंत्रीय समाजवाद के विकास के लिए ग्राम-संगठनों की सबसे पहले जरूरत है।

नौवां कारण है—लोकतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, राजतन्त्र, गणतन्त्र आदि सभी शासनप्रणालियों में लोकतंत्र इसलिए उत्तम माना गया है कि उसमें सत्य, अहिंसा, शान्ति, और न्याय के विकास की अत्यधिक गुंजाइश है। अतः भारतीय लोकतंत्र को सत्य-अहिंसादि की दिशा में बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि सत्य-अहिंसादि को सहजभाव से पाल सकने वाले और सत्य-अहिंसादि के प्रयोगों में उत्साहपूर्वक भाग ले सकने वाले ग्राम संगठित हों। क्योंकि ग्रामों के संगठित होने पर ही वे सत्य-अहिंसादिमय आन्दोलनों या प्रयोगों में उत्साहपूर्वक जुट सकेंगे। महात्मागाँधीजी ने जब चम्पारण, बारडोली, खेड़ा जिला, या यू० पी० में सत्याग्रह अथवा नमकसत्याग्रह किया था तब गाँवों ने ही अधिकतर भाग लिया था और स्वयंसेवकों का पोषण किया था। इसीलिए गाँधीजी ने अपने प्रयोग के लिए कोचरब, साबरमती या सेवाग्राम में जो आश्रम स्थापित किये थे, वे ग्रामों के निकट सम्पर्क की ही दृष्टि से किये थे।

को जरूरत होगी तो उन्हें ग्राम की सहकारी-समिति भाव तय करके देगी। ऐसा होने से बीच का दलाल, या आढ़तिया हट जायगा। सहकारी-मंडली से ग्रामीण उत्पादकों को माल पर रकम मिल जाने से कम भाव में बेचने और भारी ब्याज पर रकम लाने में होने वाला शोषण रुक जायगा।

यही कारण है कि गांधीजी स्वयं ग्रामों के उत्पादकों से निकट सम्पर्क रखने का 'चर्खा' आदि के माध्यम से प्रयत्न करते थे; वे रचनात्मक कार्यकर्ताओं को भी खादी-ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देकर ग्रामसम्पर्क की प्रेरणा दिया करते थे। भारत के स्वराज्य के लिये उन्होंने ग्रामों के संगठन निहायत जरूरी माने थे।

सातवां कारण है—भारत में अपने ढंग का संस्कृतिलक्षी लोकतंत्र है। किसी भी देश के लोकतंत्र की सफलता का मुख्य आधार उस देश के बहुसंख्यक लोगों की आवाज ठेठ केन्द्र तक पहुँच जाना, माना जाता है। दुनिया में भारत और चीन ये दो ही देश सर्वाधिक जनसंख्या वाले हैं; जिनमें भारत ही एक ऐसा देश है, जिसकी ८२ प्रतिशत (बहुसंख्यक) जनता गांवों में बसती है। किन्तु उसके संगठित न होने से उसकी आवाज केन्द्र तक तो दूर रही, प्रान्त या जिले तक भी बहुधा नहीं पहुँच पाती। ऐसी दशा में लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए सर्वप्रथम भारत की उस बहुसंख्यक ग्रामीण जनता का संगठन किये बिना कोई चारा नहीं है।

आठवाँ कारण है—भारत के लोकतंत्रीय समाजवाद को टिकाने के लिए चार चीजों की खासतौर से जरूरत पड़ेगी—(१) पढ़ी हुई बहुसंख्यक जनता, (२) धर्मनिष्ठा, (३) संस्कृति-तत्त्व का अस्तित्व और (४) जीवनोपयोगी वस्तु के उत्पादकों को न्यायप्राप्ति। इन

चारों में से गांवों में अधिकतम जनसंख्या अवश्य है, पर वह आ[illegible]
बिखरी हुई होने से बढ़ी हुई नहीं है और प्रायः अपने ही परिवार
तक को सोचती है। श्रम का तत्त्व भी ग्रामीणजनों में है, पर वह
लाचारी के रूप में पाया जाता है, निष्ठा के रूप में नहीं। संस्कृतितत्त्व
भी मौजूद है, लेकिन ग्रामीण जनता उससे अनभिज्ञ है और तेजी से
प्रविष्ट होते जा रहे शहरी भौतिकवादी विकृति के तत्त्वों से वह उसे
बचा नहीं पाती। जीवनोपयोगी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति
करने वाली चीजें तो गांव में पैदा होती हैं, पर उनके उत्पादकों को
पूरे भाव न मिलने, यथोचित स्थान प्राप्त न होने से उनमें उत्साह
नहीं है। उपर्युक्त चारों चीजों की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा ग्रामों के संगठित
होने पर ही हो सकती है। अतः लोकतंत्रीय समाजवाद के विकास के
लिए ग्राम-संगठनों की सबसे पहले जरूरत है।

चौथा कारण है— लोकतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, राजतन्त्र, गणतन्त्र
आदि सभी शासनप्रणालियों में लोकतंत्र इसलिए उत्तम माना गया
है कि उसमें सत्य, अहिंसा, शान्ति, और न्याय के विकास की अत्यधिक
गुंजाइश है। अतः भारतीय लोकतंत्र को सत्य-अहिंसादि की दिशा
में बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि सत्य-अहिंसादि को सहजभाव
से पाल सकने वाले और सत्य-अहिंसादि के प्रयोगों में उत्साहपूर्वक
भाग ले सकने वाले ग्राम संगठित हों। क्योंकि ग्रामों के संगठित होने
पर ही वे सत्य-अहिंसादिमय आन्दोलनों या प्रयोगों में उत्साहपूर्वक
जुट सकेंगे। महात्मा गांधीजी ने जब चम्पारण, बारडोली, खेड़ा जिला,
या यू० पी० में सत्याग्रह अथवा नमकसत्याग्रह किया था तब गाँवों ने
ही अधिकतर भाग लिया था और स्वयंसेवकों का पोषण किया था।
इसीलिए गांधीजी ने अपने प्रयोग के लिए कोचरब, साबरमती या
सेवाग्राम में जो आश्रम स्थापित किये थे, वे ग्रामों के निकट सम्पर्क की
ही दृष्टि से किये थे।

को जरूरत होगी तो उन्हें ग्राम की सहकारी-समिति भाव तय करके देगी। ऐसा होने से बीच का दलाल, या आढ़तिया हट जायगा। सहकारी-मंडली से ग्रामीण उत्पादकों को माल पर रकम मिल जाने से कम भाव में बेचने और भारी ब्याज पर रकम लाने में होने वाला शोषण रुक जायगा।

यही कारण है कि गांधीजी स्वयं ग्रामों के उत्पादकों से निकट सम्पर्क रखने का 'चर्खा' आदि के माध्यम से प्रयत्न करते थे; वे रचनात्मक कार्यकर्ताओं को भी खादी-ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देकर ग्रामसम्पर्क की प्रेरणा दिया करते थे। भारत के स्वराज्य के लिये उन्होंने ग्रामों के संगठन निहायत जरूरी माने थे।

सातवां कारण है—भारत में अपने ढंग का संस्कृतिलक्षी लोकतंत्र है। किसी भी देश के लोकतंत्र की सफलता का मुख्य आधार उस देश के बहुसंख्यक लोगों की आवाज ठेठ केन्द्र तक पहुँच जाना, माना जाता है। दुनिया में भारत और चीन ये दो ही देश सर्वाधिक जनसंख्या वाले हैं; जिनमें भारत ही एक ऐसा देश है, जिसकी ८२ प्रतिशत (बहुसंख्यक) जनता गांवों में बसती है। किन्तु उसके संगठित न होने से उसकी आवाज केन्द्र तक तो दूर रही, प्रान्त या जिले तक भी बहुधा नहीं पहुँच पाती। ऐसी दशा में लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए सर्वप्रथम भारत की उस बहुसंख्यक ग्रामीण जनता का संगठन किये बिना कोई चारा नहीं है।

आठवां कारण है—भारत के लोकतंत्रीय समाजवाद को टिकाने के लिए चार चीजों की खासतौर से जरूरत पड़ेगी—(१) घड़ी हुई बहुसंख्यक जनता, (२) श्रमनिष्ठा, (३) संस्कृति-तत्त्व का अस्तित्व और (४) जीवनोपयोगी वस्तु के उत्पादकों को न्यायप्राप्ति। इन

अव्यवस्था को रोकना बड़ा कठिन होगा। इसलिए शीघ्रातिशीघ्र नीति-निष्ठ गाँवों को संगठित करने की आवश्यकता है।

ग्यारहवां कारण है—आज धर्मसंस्थाएं प्रायः राज्यप्रभावित बनी हुई हैं, जबकि होना चाहिये राज्यसंस्था धर्मसंस्थाप्रभावित। बारीकी से देखने पर इसका कारण यह जान पड़ता है कि धर्मसंस्थाएं साम्प्रदायिक दायरे में बन्धी हुई होने से क्रियाकाण्डों और व्यक्तिगत साधना पर ही प्रायः जोर देती हैं। फलतः धर्म सर्वसमाजव्यापी नहीं बनता। समाजव्यापी बने बिना धर्म राज्यसंस्था पर प्रभाव नहीं डाल सकता। अतः धर्म को समाजव्यापी बनाने के लिए सर्वप्रथम धर्मदृष्टि से गाँवों का नैतिक संगठन अत्यावश्यक है।

बारहवाँ कारण है—आज लोकसेवक या जनता, जो कोई उठता है, प्रायः सरकार की ही आलोचना पर उतारू हो जाता है, अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों पर न तो प्रायः लोकसेवक ही नजर डालते हैं, न जनता ही। प्रश्न की जड़ में पहुँचकर उसका नीति-धर्मदृष्टि से सही व्यावहारिक हल ढूंढने का प्रयास नहीं किया जाता। लोकतंत्र में जनता पानी है और सरकार टोन्टी है। जैसा पानी होगा वैसा ही टोन्टी में आएगा। अतः जनता का उद्धार या सुधार हुए बिना सरकार कैसे अच्छी बन जाएगी? और जनता के सुधार का पहला तबका गाँवों के संगठन से ही शुरू होता है। स्व० पं० नेहरू जी के शब्दों में 'लोकतंत्र का मूल गाँव है।' अगर लोकतंत्र के मूल गाँव संगठित होकर सुधर जांय तो जिला, प्रान्त, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक फैलने की शक्ति उनमें पड़ी है। परन्तु जैसे बिखरे हुए पानी के एकत्रित होने से बनी हुई नदी क्रमशः नद और खाड़ी को पार करती हुई समुद्र में प्रविष्ट होती है, वैसे ही गाँव संगठित होकर प्रान्त, राष्ट्र आदि को पार करते हुए विश्वरूपी समुद्र में प्रविष्ट हो सकते हैं।

जिस समाज के मानस में व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से किसी भी प्रकार के अन्यायादि का अहिंसक प्रतिरोध या प्रतीकार करने की शक्ति जितनी अधिक मात्रा में विकसित होगी, वह समाज उतनी ही मात्रा में शोषण और शासन से मुक्त हो सकेगा। प्राचीनकाल के जैनधर्म-शास्त्रविहित 'ग्रामधर्म' में इसी कर्तव्य को प्रधानता दी जाती थी। इसी 'ग्रामधर्म' को युगानुरूप नये मूल्यों के रूप में संगठित ग्रामीण जनता में डालना ही ग्रामसंगठन का प्रधानकर्त्तव्य है।

'ग्रामदान' और 'ग्रामसंगठन' में अन्तर

'ग्रामदान' भी वैसे तो शोषण-शासन से मुक्ति दिलाने एवं लोक-शक्ति जागृत करने के उद्देश्य से प्रचलित हुआ है, परन्तु उसमें और ग्रामसंगठन में कुछ मूलभूत अन्तर है, जिसे समझ लेना जरूरी है। ग्रामदान के पीछे आर्थिक समाजरचना की दृष्टि रही है, जिसके कारण साहूकार, जमींदार और नौकरशाही इन तीन गुटों के शोषण से [illegible] मुक्ति के विचारों का उसमें समावेश होता है, जबकि ग्रामसंगठन में धर्ममय समाजनिर्माण की दृष्टि रही है, जिसके [illegible] धर्म के मुख्य पांचों अंगों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) तथा न्याय, नीति आदि सबका आचरण संस्कारवश [illegible] का पालन होता है। इतना ही नहीं, क्योंकि त्रिगुटों से [illegible] संगठन से सामाजिक-धार्मिक, नैतिक [illegible] हो जाता है। यद्यपि ग्रामदान में [illegible] होता, मगर ग्रामदान हो जाने पर [illegible] [illegible] ग्रामसंगठन [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible]

ग्रामजनों पर नैतिक नियंत्रण, चौकसी, व्यसनत्याग और नीतिनियम पालन की प्रेरणा सतत रहती है। साथ ही सुसंस्थाओं से तथा राज्य-क्षेत्र में राष्ट्रीय-महासभा से उसका पूरा अनुबन्ध रखा जाता है, जिसमें जवाबदारी का पारस्परिक पालन होता है; सभी क्षेत्रों के प्रश्न नीति-धर्म-दृष्टि से हल किये जाते हैं, सबकी शुद्धि और प्रशिक्षण जैसी महत्त्वपूर्ण बात पर पूरा ध्यान दिया जाता है। वस्तुतः ग्रामनिर्माण का कार्य न तो केवल ग्रामसम्पर्क से हो सकता है, न अनघड़ जनता या सरकार पर भार डालने से। इसलिए यहाँ सरकार या अनघड़ जनता पर यह भार नहीं डाला जाता। ग्रामदान में अन्यायादि के अहिंसक प्रतीकार के लिए कोई व्यवस्थित योजना या प्रयोग नहीं है, जबकि ग्रामसंगठन में इस प्रकार प्रश्नों के हल एवं अन्यायादि अनिष्टों की शुद्धि के लिए क्रमशः समाधानवार्ता, मध्यस्थप्रथा, सामाजिक-नैतिक-दबाव; असहकार एवं शुद्धिप्रयोग की व्यवस्थित योजना है। ग्रामदान में ग्रामजनों की जमीन की मालिकी का (सर्वथा या अधिकांशमात्रा में) विसर्जन कराया जाता है, जबकि ग्रामसंगठन में मालिकीहकमर्यादा कराई जाती है, ट्रस्टीशिप की भावना भरी जाती है, ताकि समय आने पर उसे अपने जीवन की आवश्यकताओं के लिए मारे-मारे न फिरना पड़े। इसी कारण जैसे लश्कर के भरण-पोषण की चिन्ता सरकार करती है, वैसे ही यहाँ ग्रामसंगठन के मुख्य घटक किसान की जमीन की मालिकी-रक्षा की चिन्ता समाज और विशेषतः क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग करते हैं। यही कारण है कि अंजार (कच्छ) के एक किसान की आजीविकादायक जमीन छीनी जा रही थी, तब सन् १९४८ में मुनिश्री संतबालजी ने घाटकोपर-चातुर्मास में शर्ती आमरण अनशन किया था। परन्तु ग्रामदानीजनों को मुसीबत के समय ग्राम-सभा से मदद मिलने की [illegible] गारंटी नहीं मिलती है। ग्रामदानी ग्रामसभा में किसी के व्यावहारिक जीवन की जाँचपड़ताल नीतिधर्म-

दृष्टि से लिये बिना और बाधा प्रलोभन देकर प्रविष्ट कर लिया जाता है, जिससे कई भूतपूर्व शोषक, उद्दण्ड या जबरदस्त लोग घुसकर अग्रस्थान जमा लेते हैं और पहले की तरह आर्थिक घोटाला करते हैं, जिससे ग्रामसभा बदनाम होती है, उसके प्रति लोकश्रद्धा घट जाती है। मतलब यह कि ग्रामदानीसभा में अच्छे बुरे का वर्गीकरण करके व्यक्तियों को नहीं लिया जाता; जबकि ग्रामसंगठन में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति की उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा, चरित्रादि व योग्यता के बारे में विश्लेषण व जांचपड़ताल के बाद ही धंधे की दृष्टि से (व्यावसायिक हित पृथक् २ होने से) वर्गीकरण करके लिया जाता है, प्रेरकों व मार्गदर्शकों की ओर से उसकी शुद्धि, तालीम व निर्माण का ध्यान रखा जाता है। यही दोनों में मौलिक अन्तर है। सम्भव है, भविष्य में ग्रामदान ग्रामसंगठन की बुनियादी बातों को अपना ले।

ग्रामसंगठनों के बनाने में कठिनाइयाँ और उनका हल

ग्रामों के नैतिकदृष्टि से संगठन करने में वैसे तो अनेक कठिनाइयाँ हैं। मुख्य कठिनाइयां ४ हैं—ग्रामों की भौगोलिक रचना, रोजगार की परिस्थिति, सामाजिक व्यवस्था और लोकमानस। संगठन को गठित करने के लिए लोकसम्पर्क और प्रचार ये दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इन दोनों के लिए एक बड़ी संख्या में लोक-समूह जहां सरलता से जमा हो सके और उसका सतत सम्पर्क बना रहे, ऐसी भौगोलिक रचना आवश्यक है। भारत के गांव अलग-अलग और प्रायः दूर-दूर बसे हुए हैं। उसमें भी प्रत्येक गांव में ५०० से १००० तक की औसत जनसंख्या होती है। फिर मेहनत-मजदूरी का काम होने से वे दिनभर के थके-पचे शाम को घर पर आते हैं, भोजन करते हैं, गपशप लड़ाते हैं, फिर सोने की तैयारी करते हैं। इसलिए बड़ी मुश्किल से ग्राम-संगठन की बात सुनने की उनकी मानसिक तैयारी होती है। रोजगार

मीटिंगों में जाकर बड़ी सुगमता से ग्रामीणजनों में प्रवेश किया जा सकता है; फिर धीरे-धीरे प्रवचन, विचारगोष्ठी आदि या भिक्षाचरी के द्वारा उस सम्पर्क को दृढ़ किया जा सकता है। बाद में क्रमशः ग्रामीणजनों के प्रश्न यथाशक्ति लेने और सुलझाने, उन्हें व्यसन-त्याग, शराब, मांसाहार, जुआ आदि व्यसनों के छुड़ाने और उनकी चिन्ता के प्रसंगों पर आश्वासन देने आदि से प्रेरकों के प्रति उनकी आस्था और आत्मीयता बढ़ेगी, तब जाकर ग्रामसंगठन की बात तुरंत उनके गले उतरेगी।

गाँवों की सामाजिक व्यवस्था इतनी रूढ़ होती है कि उसमें एक दूसरे के साथ बैठने, बात करने और मिलने-जुलने में बहुत संकोच और जाति के अगुओं का डर होता है। गाँवों की समाज-व्यवस्था में अभी तक पुरानी जातिप्रथा, उपजातिप्रथा, पंक्तिभेद, चौकेबाजी, छुआछूत, ऊँचनीच आदि भेदभावों का बोलबाला है। यद्यपि महात्मा गांधीजी जैसे महात्माओं के प्रयत्न से और सरकारी कानून हो जाने से इनकी जड़ें कुछ ढीली पड़ी हैं। फिर भी निचले स्तर वाले को ऊपर उठने से रोकने जितनी ताकत अब भी इनमें मौजूद है। फिर जातपांत के साथ धर्म का रंग भी गहरा लगा दिया है कि एक ही कृषि का धंधा होते हुए भी राजपूत, ब्राह्मण, बनिया अथवा पटेल दूसरे समान-व्यवसायी कोली, हरिजन, कुम्भार आदि के साथ बैठने-उठने, मिलने-जुलने और संगठन में शामिल होने तक में संकोच करेंगे। सफाई से बने हुए शुद्ध शाकाहारी के भोजन के लेने में भी आनाकानी करेंगे। कई गांवों में ऐसी स्थिति होती है कि वहां एक ही वर्ग या जाति की प्रधानता होती है और बाकी के अल्पसंख्यक होते हैं। इस तरह बहुसंख्यकों के विरुद्ध अल्पसंख्यक कुछ भी करने की स्थिति में नहीं होते। और जब बहुसंख्यकों को यह मालूम पड़ता है कि यह (अल्पसंख्यक) ग्रामसंगठन में प्रविष्ट हो जायेंगे तो हमारा

। यद्यपि न्याय और सुरक्षा सारे राष्ट्र की दृष्टि से देखें तो राज-
तिकक्षेत्र के साधन हैं, परन्तु यहाँ ग्रामों का स्वायत्त शासन—
राज्य—सिद्ध करने की दृष्टि से और भारत में राज्यसंस्था भी समाज
एक अंग रूप में मान्य होने से राजनैतिकक्षेत्र के साधन के रूप
हमने इन्हें नहीं माने हैं। यों तो आज प्रायः सभी क्षेत्रों पर
ाज्यसंस्था का प्रमुत्व है; परन्तु उससे दण्डशक्ति, कानून, और हिंसा
था तानाशाही पर ही लोक-विश्वास बढ़ता है। ऐसा होने से लोकतंत्र
और लोकशक्ति दोनों का ही विकास कुण्ठित हो जाता है। जनता
याय, सुरक्षा, अन्न-वस्त्र, शिक्षण-संस्कार आदि प्रत्येक प्रश्न में फिर
रकारमुखापेक्षी बन जाती है। सरकार जब इनकी व्यवस्था करती
है तो कानून और दण्ड से ही करती है, इससे अहिंसा और नीति-
धर्म पर जनता की निष्ठा नहीं टिकती। इसीलिए ग्रामसंगठनों के द्वारा
उक्त सातों साधनों में स्वावलम्बन सिद्ध करने में स्वैच्छिक नियमन,
न्याय और सुरक्षा (शान्ति) की अहिंसक पद्धति–मध्यस्थ प्रथा, शुद्धि-
प्रयोग, शान्तिसेना, सुरक्षादल–आदि का आश्रय लिया जायगा; जिससे
अराजकता, उद्दण्डता का निराकरण अहिंसक-प्रक्रिया से होगा;
लोकशक्ति का विकास होगा; अहिंसा और नीति-नियम पर निष्ठा
बढ़ेगी।

उक्त सप्तसाधनों में स्वावलम्बन सिद्ध करने के लिए ८ मूलभूत
प्रवृत्तियाँ अपनानी होंगी— (१) सहकारी प्रवृत्ति, (२) ग्रामपंचायत-
प्रथा, (३) मध्यस्थ-प्रथा, (४) शुद्धिप्रयोग, (५) ग्रामसुरक्षादल,
(६) शान्तिसेना, (७) आरोग्यप्रवृत्ति, (८) शिक्षण-संस्कार-प्रवृत्ति।

इन आठों में से आर्थिकक्षेत्र के विकास के लिए सर्वप्रथम सहकारी
प्रवृत्ति की ओर ग्रामों को झुकाना होगा। यद्यपि नीति-निष्ठा तो
इस संगठन की सर्वक्षेत्रीय प्रवृत्तियों में रहेगी ही। परन्तु अर्थनीति

इसी प्रकार सप्तसाधनों में स्वावलम्बन के हेतु ग्रामसंगठन संचालित प्र. प. ग्रामपंचायत योजना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। ऐसी पंचायत से सत्ता का विकेन्द्रीकरण तो होगा ही; चुनाव में पक्षीय गुटभेद, जातिवाद, वर्गवाद का उभरना, योग्य व्यक्ति का न आना, चुनाव का विशाल खर्च तथा अन्य अनिष्ट आदि दोष नहीं पनप सकेंगे। उसकी ईकाई ७ गाँव या ५००० की आबादी की होगी जिसे 'प्र. प. ग्रामपंचायत' कहा जायगा। ऐसी पंचायतों को अन्न, वस्त्र, आवास, न्याय, शिक्षण-संस्कार, आरोग्य और सुरक्षा इन सातों ही साधनों की व्यवस्था के सभी कार्य सौंपे जायेंगे। इसमें प्रत्येक वार्ड का प्रतिनिधित्व हो, इस तरह उम्मीदवार का चुनाव होगा, जिससे सारी ईकाई में से योग्य और सेवा द्वारा लोकप्रिय व्यक्ति ही चुने जायेंगे। इस प्रकार की ग्रामपंचायतों में से तहसीलपंचायत (१ लाख की बस्ती की बनेगी। और तहसील पंचायतों में से प्रादेशिक (४ से ५ लाख की बस्ती की इकाई वाली) पंचायत बनेगी। उसके हाथ में अपने प्रदेश से सम्बन्धित न्याय व व्यवस्था-विषयक सभी अधिकार सौंपे जायेंगे। १० प्रादेशिक पंचायतों पर एक कमिश्नर रहेगा, जिसका सीधा सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार के साथ रहेगा। केन्द्रीय सरकार के हाथ में मुख्यतौर से अन्तर्राष्ट्रीय सवाल, देशरक्षा, आयातनिर्यात, परिवहन (वाहन) व्यवहार तथा कुछ बड़े-बड़े नगरों के एवं राष्ट्ररचना के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहेंगे। इस प्रकार अगर नीचे से पंचायतों की रचना की जाय तो एक सम्पूर्णस्वावलम्बी और राज्य-व्यवस्था की सुदृढ़ ईकाई के रूप में ऐसे प्रदेश कार्य कर सकेंगे। उपर्युक्त ८ प्रवृत्तियों को चलाने के लिए जो संस्थाएँ होंगी, वे ग्रामपुनर्रचनामण्डल के अधीन रहेंगी। ग्रामपुनर्रचनामण्डल से अगर सप्तविध-साधनस्वावलम्बन का कार्य पूरा न हुआ तो अवशिष्ट कार्य के हेतु नगरपुनर्रचनामण्डल बनाना होगा। इसके माध्यम से सारे विश्व तक पहुँचने की-यानी

ग्रामसंगठन की विविध प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं की कसौटी में से उत्तीर्ण होंगे, अधिक शुद्ध, पवित्र, निःस्वार्थी और दूसरों के लिये सहन करने वाले होंगे। इस नये नेतृत्व से ग्रामसंगठन की जड़ें गहरी और व्यापक बनेंगी।

इसके अतिरिक्त सरकार-संचालित सहकारीमंडलियों और ग्राम-पंचायतों आदि में ग्रामसंगठन की ओर से नियुक्त नैतिक-प्रतिनिधि अवश्य रखा जाएगा। उसकी जिम्मेवारी यह होगी कि वह लोकतंत्रीय विधान के नाम पर बहुमत से निर्वाचित अयोग्य एवं अनिष्ट व्यक्तियों को संस्था में घुसने से रोके, पहले से घुसे हुए हों तो उन्हें हटाए और इष्ट व योग्य व्यक्तियों का लाभ जनता को दिलाए। ग्रामों में निहित-स्वार्थियों, जातीय, अयोग्य एवं पुरातन अवाञ्छनीय नेतृत्व की पकड़ को ढीली करने, न्यायी सन्तुलन तथा लोकतन्त्रीय विधान की रक्षा के लिए ऐसा नैतिक प्रतिनिधित्व आवश्यक है। सम्भव है, लोकतन्त्र के आदर्श के साथ कई लोगों को नैतिक-प्रतिनिधित्व की बात असंगत लगे, लेकिन भारत की ग्रामीण संस्कृति ग्राम्यजनता के संवर्द्धन व निर्माण की दृष्टि से इसे हृदय से अपना लेगी। लोकतन्त्र को तो इससे सुन्दर पोषण मिलेगा।

राजनैतिक दृष्टिकोण

यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि यह प्रयोग समाज के किसी भी अंग या किसी भी क्षेत्र को छोड़ कर नहीं चलेगा, केवल गगनविहारी कल्पना में नहीं उड़ेगा, अपितु यथार्थवादी होकर प्रत्येक अंग के सभी क्षेत्रों के प्रश्न लेगा, नीति-धर्मदृष्टि से उन्हें हल करेगा। इस दृष्टि से ग्रामसंगठन को भी राजनीतिक क्षेत्र से वह अछूता या अलग नहीं रख सकता। आज दुनिया के तख्ते पर राजनीति का बोल-बाला है। विभिन्न राष्ट्रों में तेजी से राजनैतिक उथल-पुथल हो रही

में यह दृष्टि नहीं होगी कि वे किसी भी राजनीतिक पक्ष को मत न दें या किसी अच्छे व्यक्ति (चाहे वह भारतीय संस्कृतिविरुद्ध पक्ष का हो) को मत दें और यह भी नीति कतई नहीं रहेगी कि ग्रामसंगठन भी विरोधी पक्षों की तरह स्वयं एक राजनैतिक पक्ष बन कर सत्ता प्राप्त करें और सत्ता द्वारा असम्भव अहिंसक क्रान्ति करने का सोचें। पहले विकल्प में अपनी जिम्मेवारी से भागना या जनता को भागना है; क्योंकि जब तक आमजनता इतनी उच्च भूमिका पर आरूढ़ न हो जाय, स्वयं ही कानूनों, नैतिक नियमों का पालन कर ले; दण्ड-व्यवस्था की कोई जरूरत न हो, अराजकता या उद्दण्डता, उपद्रव या तोड़फोड़ कोई भी न करता हो या दूसरा कोई जानमाल का नुकसान करता हो तो भी शान्तिपूर्वक अहिंसकपद्धति से उसे हल कर लिया जाता हो, सामनेवाला पक्ष भी उसे स्वीकार करता हो, न करता हो तो सामाजिक-नैतिक-दबाव द्वारा उसे स्वीकार करने को बाध्य कर दिया जाता हो; तब तक राज्यसंस्था की जरूरत तो रहेगी ही। हाँ, यह हो सकता है कि उसकी मदद कम से कम या सबसे अन्त में—सभी दबावों के असफल होने के बाद लिये जाने के लिए हम जन-शक्ति को तैयार कर दें। यानी राज्यसंस्था का नम्बर चौथा हो। मतलब यह कि हम समाज की इतनी मनोभूमिका तैयार कर दें कि देश के अन्तर्राज्यीय प्रश्नों में भी राज्य की दण्डशक्ति का उपयोग न करना पड़े, समाज स्वयं ही संगठितरूप से अपने प्रश्न अहिंसक ढंग से हल कर ले। राज्यशक्ति का क्रम चौथा होगा। यानी बुनियाद में आध्यात्मिक शक्ति, व्यवहार में सामाजिक और नैतिकशक्ति और अन्त में उस पर मुहरछाप लगाने के लिए स्वेच्छा से आने वाली राज्यशक्ति हो। आज तो समाजस्रष्टाओं द्वारा समाज की इस प्रकार की भूमिका भी तैयार नहीं की गई है। तब राज्यसंस्था—या शासन से—शासनप्रणालियों में सर्वोत्तम जनतंत्रीयशासन से कैसे इन्कार

जहर फैला देगी। जिसकी दुर्गन्ध से फैलने वाली बीमारी का चेप उन समाजस्रष्टाओं व आध्यात्मिक पुरुषों को भी लगे बिना न रहेगा। अतः कॉंग्रेस के आलोचकों का सर्वप्रथम यह कर्तव्य हो जाता है कि वे सत्ताकांक्षा से दूर रहकर जनसंगठनों और जनसेवकसंगठनों यानी क्रमशः पूरक-प्रेरक-बलों द्वारा कांग्रेस पर सामाजिक-नैतिक दबाव व अंकुश लाने, उसका अहिंसक प्रतिरोध या प्रतीकार करने और उसकी शुद्धि करने के प्रयत्न के साथ-साथ जन-संगठनों द्वारा मतदान से उसे निश्चिन्त बना कर न्यायनिष्ठ बना कर, उसका निर्माण करें। ग्राम-संगठनों में से चढ़े हुए व्यक्तियों को शासन में भेजें; ताकि राज्यशक्ति पर लोकशक्ति का प्रभुत्व हो, व लोकतन्त्र लोकलक्षी बने।

इसी दृष्टि से ग्रामसंगठन स्वयं राजनैतिक पक्ष बनकर सत्ता नहीं लेगा; किन्तु सर्वोत्तम राज्यसंस्था कांग्रेस का समर्थन करके जनता का एवं उसका निर्माण पूर्वोक्त रीति से करने का पुरुषार्थ करेगा। कांग्रेस क्या है? उसका ही समर्थन क्यों? यह सब चर्चा कांग्रेस के प्रकरण में खुल कर की जायगी।

ग्रामसंगठन प्रयोग का मेरुदण्ड है।

इस प्रकार ग्रामसंगठन धर्ममय समाजरचना के प्रयोग का मेरुदण्ड है। क्योंकि ग्रामसंगठनों के संचालकों, नैतिक प्रेरकों (रचनात्मक कार्यकर्ताओं) तथा मार्गदर्शक, आध्यात्मिक प्रेरक, क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग के लिए प्रयोग की स्वस्थता, सफलता और सक्रियता के व्यक्तरूप का आधार ग्रामसंगठन का सुदृढ़ निर्माण है। अगर समाजरचना के इस पहले पड़ाव पर, बुनियादी की ईंट पर भलीभाँति ध्यान दिया गया तो सारी समाजरचना सुदृढ़ बनेगी और प्रयोग की यात्रा सुखद और सुरक्षित रूप से हो सकेगी। अन्यथा, जनसेवकों (रचनात्मक कार्यकर्ताओं) और क्रान्तिप्रिय साधुओं-दोनों की दृष्टि धुंधली, अस्पष्ट और

किंकर्तव्य विमूढ़ हो जायगी। उन्हें आगे का प्रकाश नहीं दिखेगा। वे यहीं इधर-उधर या तो जननिर्माण के नाम पर विविध राहत-कार्यों के भँवरजाल में गोते खायेंगे या फिर वे बुरी तरह असफल होकर समाजरचना के उत्तम कर्तव्य को छोड़कर भाग खड़े होंगे अथवा पूंजीवाद के लुभावने जाल में फंस जायेंगे। इसलिए समाजनिर्माताओं एवं समाज के मार्गदर्शकों को सर्वप्रथम प्रयोग-क्षेत्र की नींव ग्रामसंगठन की पक्की ईंटों से डालनी चाहिए; उसी से प्रयोग-क्षेत्र को नींव सुदृढ़ होगी। साथ ही ग्रामसंगठन के साथ-साथ समाज के अवशिष्ट सभी अंगों का यथायोग्य अनुबन्ध जोड़ना चाहिए, और सभी क्षेत्रों के एतत्सम्बद्ध प्रश्न भी सर्वांगी नीति-धर्मदृष्टिपूर्वक हल करने चाहियें; जिससे समाजरचना का प्रयोगरूपी प्रासाद भी मजबूत और सुन्दर बने।

नगरजनसंगठन की आवश्यकता, स्वरूप और महत्त्व

ग्रामजनसंगठन के बाद जनसंगठन का दूसरा प्रकार नगरजन-संगठन है। जैसे ग्रामसंगठन की जरूरत देश में अनेक जनसंस्थाओं के होते हुये भी है और रहेगी, वैसे ही देश में शहरों में आर्थिक दृष्टि से, सत्तालक्षी दृष्टि से, साम्प्रदायिक या जातीय दृष्टि से व्यापारियों, गुमास्तों, मजदूरों, श्रमजीवियों के संगठनों; पक्षों, धर्मसंस्थाओं या जाति-उत्कर्ष-मण्डलों के रूप में विविध जनसंगठनों के होते हुए भी इस प्रकार के नैतिक नगरजनसंगठन की भी अत्यन्त आवश्यकता है और रहेगी।

पहलेपहल जब नगर बसाये गये होंगे, तब प्रायः समुद्र या नदी के तट पर विदेशों से माल के आयात-निर्यात की सुविधा या देश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर नौका द्वारा माल लाने-ले जाने की सुगमता की दृष्टि से बसाये होंगे। शुरू-शुरू में लोग, खासकर विनि-

मयकार-व्यापारी अपने गांव छोड़ कर शहर में बसने को तैयार नहीं हुए होंगे, उन्हें नगर के शासकों ने कर माफ कर देने और अन्य सुख-सुविधाएँ देने के प्रलोभन से आकृष्ट किये होंगे। इसीलिए नगर का व्युत्पत्त्यर्थ था—'न करो यस्मिन् तत् नगरम्' (जहां कर न हो, वह नगर है)। इस प्रकार नगर बसे होंगे। शुरू में नगर की नीति ग्राम-पोषक या ग्रामपूरक रही होगी। और वहाँ के महाजन और जन-जातियाँ नीतिनिष्ठ धर्मलक्षी रही होंगी। यद्यपि कई उतार-चढ़ाव भी आए होंगे। विदेशों से सम्पर्क के कारण नगर में जुआ, चोरी, व्यभि-चार आदि दूषण भी पनपे होंगे। फिर भी नगरों की इस दूषणता का चेप ग्रामों को नहीं लगा था। क्योंकि यातायात के इतने द्रुतगामी और सर्वत्रप्रवेशी साधन उस समय नहीं थे। किन्तु जब से भारत में मुस्लिम-शासन आया, तब से कई दूषण शहरों के साथ-साथ गांवों में भी घुसे और जब से ब्रिटिश-शासन ने यहां अपने पैर जमाए, तब से यन्त्रवाद आया। बड़े-बड़े और व्यक्तिगत मालिकी के यन्त्रोद्योग नगरों में बढ़ने लगे।

उद्योगों के केन्द्रीकरण के फलस्वरूप ग्रामों से कम भाव में कच्चा माल लेकर, और तैयार [illegible] वस्तुओं पर काफी मुनाफा चढ़ा कर, एवं [illegible] में ग्रामवासियों का श्रम खरीदकर शहर गांवों का शोषण करने लगे। [illegible] शहर ब्याज, दलाली और कमीशन भी [illegible] लगे। फलतः शहर शोषण के अड्डे बन गये। दूसरी ओर विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने और आवागमन के कारण [illegible] की सभ्यता और भौतिकवाद का रोग भारत के शहरों को लगा। फलतः फैशन, व्यसन (शराब, मांसाहार, जुआ, चोरी, [illegible]) [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] और व्यसन, [illegible], [illegible], सिनेमा और गुण्डागर्दी बढ़ने लगी। गांवों [illegible]

में काम करने और बेकार व्यापारी व्यापार-धंधे करने के हेतु एवं सुरक्षा की दृष्टि से शहरों में आ बसे। शहरों की आबादी बढ़ने लगी। आवास की तंगी, विकृत खान-पान एवं अशुद्ध जलवायु के कारण तथा चारों ओर के दूषित वातावरण के कारण शहरों में रोग और अन्य अनिष्ट बढ़े। मध्यमवर्गीय जनता भी यहां शोषण की चक्की में पिसने लगी। अपरमध्यमवर्गीय तथा उच्चवर्गीय लोग शोषण द्वारा फलने-फूलने लगे। फलतः महात्मा गांधीजी के शब्दों में शहर शैतान के चरखे बन गये।

इसके सिवाय राजतन्त्रीययुग में भारत में अनेक क्षत्रिय तथा मुस्लिम राजा, बादशाह या सम्राट् हुए उन्होंने भी नगरों में ही अपनी राजधानियां बनाईं। जिनसे शासकों के दूषित संस्कारों व अनिष्टों का लेप भी नगर की प्रजा को लगा। विदेशीशासन से पहले राज्यसंस्था पर प्रायः ब्राह्मणों (प्रेरकों) और महाजनों (पूरकों) का अंकुश था; परन्तु बाद में तो जो विदेशी शासक आए वे (भारतीय) राष्ट्रहित को महत्त्व कम देते थे; उनके नीचे जो राजा या ठाकुर थे, वे भी राष्ट्रहित भूल कर मुस्लिम या ब्रिटिश शासन का पक्ष लेते थे। ब्रिटिश शासन ने तो अधीनस्थ राजाओं को अपने स्वार्थसाधन का हथा बनाया। स्वराज्य प्राप्ति के ६२ साल पूर्व 'कांग्रेस' नामक एक राष्ट्रहितैषी राज्यसंस्था बनी, जिसके माध्यम से गांधीजी ने भारत को स्वराज्य दिलाया। स्वराज्य के बाद देश में निरंकुश सत्ताकांक्षी अनेक राजनैतिक पक्ष बने। उनके पीछे कोई न्यायनीति एवं जनहित की दृष्टि नहीं थी। यांत्रिक कलकारखानों के विकास के साथ यान्त्रिक मजदूरों के कई संगठन राजनैतिक पक्षों ने बनाए। कुछ संगठन विभिन्न धन्धों या व्यापारियों के भी बने। मगर इन सबकी दृष्टि क्रमशः विरोधी शक्ति से मुकाबला करने, हिंसक और अवैधानिक संघर्ष, अराजकता, हड़ताल, तोड़-फोड़ आदि द्वारा सरकार और जनता को हैरान करने तथा अर्थ

कांग्रेस के साथ इनका राजनैतिक अनुबन्ध रहेगा, ताकि वे अन्य विरोधी पक्षों के जाल से मुक्त होकर कांग्रेस को मतदान से निश्चिन्त कर सकें और उस पर अंकुश ला सकें; उसे सिद्धान्त से हटते हुए रोक सकें, सेवा के बहाने सत्ताकांक्षी या निहितस्वार्थी तत्त्वों से कांग्रेस की रक्षा कर सकें तथा उसका आमूलची रूपान्तर व शुद्धि कर सकें; ताकि उसमें पूंजीवाद व साम्यवाद का प्रभाव कम हो।

महात्मा गांधीजी ने शहरों के अनिष्टों को दूर करने के लिए वैसे तो चर्खासंघ, नईतालीमसंघ, गोसेवासंघ, हरिजनसेवकसंघ आदि रचनात्मक संस्थाएँ स्थापित की थीं, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण था— यांत्रिक मजदूरों और मालिकों का संयुक्त संगठन, जिसका नाम था— 'मजूरमहाजन'। आज तो उस संगठन के विस्तृतरूप में 'राष्ट्रीय औद्योगिक मजदूरसभा' (इन्टुक) सारे भारत में चल रही है।

यान्त्रिक मजदूरों में नीतिन्यायनिष्ठा बढ़े, मालिकों के साथ हुए झगड़े वे मध्यस्थप्रथा से निपटाएँ, यही 'मजूरमहाजन' के पीछे उद्देश्य था। इसके संचालन की जिम्मेवारी गांधीजी ने ध्येय (गांधीविचार) को न भूलने वाले सुयोग्य कार्यकर्ताओं (नगरजनसेवकों) के हाथों में सौंपी। कांग्रेस के साथ इसका अनुबन्ध जोड़ा ताकि राजनैतिकक्षेत्र में यह कांग्रेस के साथ मिल कर चले।

परन्तु मजदूरों के इस नये विस्तृत संगठन में नैतिक प्रेरणाबल सतत न मिलने से नैतिक चौकी के अभाव में कई अनिष्ट भी घुस गए हैं। उनमें व्यसन, शराब, मांसाहार, जुआ, व्यभिचार, फैशन, निर्दोष-हत्या, सिनेमा, विलासिता आदि अनिष्टों की वृद्धि हो रही है। कभी-कभी क्षणिक लोभवश वे राजकीयक्षेत्र में कांग्रेस को छोड़ कर अन्य विरोधी और गलत सिद्धान्त वाले पक्षों के चंगुल में भी फंस जाते हैं और उनके हत्थे बन कर तोड़फोड़, हड़ताल या दंगा, उपद्रव

उससे अपराध स्वीकार कराने एवं उसके लिए क्षमापनापूर्वक प्रेम बढ़ाने का प्रयत्न करेगा।

इसके अतिरिक्त शहर में मध्यमवर्गीय बहनों का संगठन भी अत्यावश्यक है। जो थोड़ा-सा प्रयत्न करने से होना संभव है। मध्यमवर्गीय बहनों की प्रायः स्थिति ऐसी है कि उनके पास गृहकार्य के अतिरिक्त काफी समय बचता है। कई बार वे उस समय को निन्दा-चुगली करने, गप्पें मारने, आवारा भटकने, नाटक-सिनेमा देखने, ताश आदि खेलने या अन्य व्यर्थ के मनोरञ्जन, व्यसन या फैशन के साधन जुटाने में बर्बाद करती हैं। कई बहनों की तो पारिवारिक स्थिति बहुत खराब होती है। घर में छोटे-छोटे बच्चे होते हैं और उनका भरणपोषण करने वाली केवल एक ही विधवा माता होती है। कई जगह बहनों पर उनके अपने परिवार वालों, पति या सास की ओर से अत्याचार ढहाए जाते हैं, कई बार उन्हें व्यभिचार के मार्ग में धकेला जाता है। इस कारण कई जगह तो आत्महत्याएँ सीमा तोड़ चुकी हैं। कई जगह घर में एक पुरुष ही अकेला कमाने वाला होता है, घर का खर्च पूरा नहीं चलता, तब उसे अनीति का रास्ता लेने को बाध्य होना पड़ता है। इन सब समस्याओं का हल 'मातृसमाज' है। माताओं को इस संगठन के माध्यम से स्वाभिमानपूर्वक गृह-ग्रामोद्योगों द्वारा न्यायनीतिपूर्वक रोजी मिल सकेगी। संगठन (संस्था) होने पर तो कई सम्पन्न घर की महिलाएँ भी अपनी बिखरी और अस्तव्यस्त पड़ी हुई घर और परिवार की उस वात्सल्यगंगा को समाज में बहा सकेंगी। महिलाओं में रहे हुए क्षमा, सेवा-शुश्रूषा, वत्सलता, तपस्या, सहनशीलता आदि गुणों और शक्तियों के विकास के लिए समय-समय पर इस संस्था द्वारा विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये जा सकेंगे। भारतीय संस्कृति की दृष्टि से नारीजाति का निर्माण होने से वे अपने बच्चों को भी सच्चरित्र,

से द्रवीभूत होकर इसकी सहायता और सेवा करने में अपनी सर्वस्व शक्ति लगा देने वाला परम कारुणिक भी है। ऐसे कार्यकर्ता या लोकसेवक सारे समाज के लिए गौरवरूप हैं, जो अपने जीवन को समाजसेवा के उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शुद्ध साधन होकर खपा जाते हैं।

इस प्रयोग का जनसेवक भी किसी दूसरी दुनिया का प्राणी हो, ऐसा नहीं है, अपितु वह भी जनसंगठनों के संचालन और (प्रेरणा, शुद्धि, अनुबन्ध, प्रशिक्षण, संगठन आदि के द्वारा) नैतिक निर्माण का उत्तरदायित्व लेकर समाज की प्रत्यक्षसेवा के पथ पर आता है। समग्र-समाज के मार्गदर्शक क्रान्तिप्रिय साधु अपनी साधुमर्यादा के कारण कई कार्यों में प्रत्यक्ष (सीधा) भाग नहीं ले सकेंगे, वहां उन कार्यों में वे अपने हाथपैररूप जनसेवक-जनसेविकाओं को (उनका समाज के साथ तादात्म्य होने से) मार्गदर्शन देंगे, जिन्हें वे स्वयं सम्पन्न करेंगे या जनसंगठनों द्वारा सम्पन्न करायेंगे। यद्यपि सेवक का पथ बड़ा कंटकाकीर्ण है, फिर भी जिसे अपना जीवन बनाना है, अपने जीवन की शुद्धि, वृद्धि, सिद्धि करनी है, उसे समाजसेवा का कष्टदायक मार्ग भी समाज के प्रति वात्सल्य के कारण आनन्दमय लगता है। जनसेवक समाज का साक्षी बन कर समाज और समाज की अंगभूत राज्यसंस्था में प्रविष्ट गंदगी की सफाई करने; समाज की अशुद्धि को अपनी अशुद्धि मान कर उसकी शुद्धि करने, समाज के दुःख और संकट को अपना दुःख-संकट मानकर उसका प्रतिरोध, या प्रतीकार करने-कराने का उपाय सोचता है, स्वयं जुटता है, समाज को जुटाता है और सारे समाज के दुःख को कम करने या मिटाने के पुरुषार्थ में सफल होता है। परन्तु वह भी कहीं भूल न कर बैठे, या ध्येय से भटक-बहक न जाय, इसलिए क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग के मार्गदर्शन में चलता है।

(१) सर्वाङ्गी सर्वक्षेत्रीय दर्शन— जनसेवक भारतीय संस्कृति और भारतीय समाज-व्यवस्था के सिद्धान्त का सातत्य लेकर चलेगा। तब उसकी दृष्टि यदि समाज के किसी अंग को छोड़ कर चलने की होगी अथवा समाज-व्यवहार के किसी भी क्षेत्र को छोड़ कर चलने की होगी तो चाहे उसमें प्राण, प्रतिष्ठा, या परिग्रह के त्याग की कितनी ही उच्चभावना होगी, वह समग्रसमाज के उदय, समग्रसमाज के निर्माण या समग्रसमाज-सेवा में सफल नहीं हो सकेगा। फिर वह कार्य तो कदाचित् करेगा, किन्तु दृष्टि स्पष्ट और सर्वांगी-सर्वक्षेत्रस्पर्शी न होने से अंधेरे में भटकेगा, उलझनों में मार्ग नहीं सूझेगा या वह समाज के हर अंग को, कभी सरकार को, कभी परिस्थिति को कोसता रहेगा, या ईश्वर की कृपा पर डाल कर उस विषय में पुरुषार्थहीन या गैरजिम्मेदार हो जायगा। समाज के चार मुख्य अंग माने हैं—जनसंगठन, जनसेवकसंगठन, राज्यसंस्था और क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग। और प्रयोग के अंग भी चार हैं—संगठन, अनुबन्ध, शुद्धि और प्रशिक्षण। सर्वांगी दर्शन में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, [illegible], आध्यात्मिक आदि क्षेत्रों का समावेश होता है। कदाचित् सर्वांगी सर्वक्षेत्रीय दर्शन में कुछ कमी होगी तो उसकी पूर्ति मार्गदर्शक [illegible]) के मिलने से दूर हो सकेगी। परन्तु एक बात ध्यान में रखनी है कि किसी या किन्हीं अंगों और क्षेत्रों को [illegible] या [illegible] छोड़ कर नहीं चलना चाहिए। महात्मा [illegible] में यह खूबी थी कि वे राजनैतिक क्षेत्र हो आर्थिक, धार्मिक हो [illegible], किसी में भी [illegible] का [illegible] अथवा [illegible] नहीं थे। [illegible] ([illegible]) को भी [illegible] मार्गदर्शन दिया [illegible] समाज या प्रयोग के किसी [illegible]

या कमी ज्यों की त्यों रह जायगी। और उसका असर समाज के अन्य अंगों पर (उसके व्यक्तिगत जीवन पर भी) पड़े बिना न रहेगा। इसी प्रकार जनसेवक की दृष्टि या धारणा ऐसी भी न हो कि समाज के किसी अंग या क्षेत्र की कमी या अशुद्धि ईश्वरीय प्रकोप के कारण है या भाग्य या पूर्वजन्मकृत कर्मों का ही परिणाम है; अथवा दुनिया स्वार्थी और पराई है, हमें संसार से कुछ लेना-देना नहीं। हमें तो अपनी आत्मोन्नति द्वारा व्यक्तिगतरूप से स्वर्ग-मोक्षप्राप्ति ही अभीष्ट है।" सचमुच ऐसी एकांगीदृष्टि वाले व्यक्ति भी जनसेवक नहीं कहे जा सकते। अथवा जो किसी अंग या क्षेत्र के बारे में उदासीन रहकर दूसरों के प्रयत्नों की केवल आलोचना ही करते रहें, वे भी जनसेवक नहीं हो सकते।

(२) क्रान्तदृष्टि—जनसेवक क्रान्तदृष्टि वाला होना चाहिए। भविष्य में क्या होने वाला है? समाज के ये दुःख किस किस के हैं? किस प्रकार मिटाये या कम किए जा सकते हैं? किस प्रकार इन्हें आने से पहले ही रोका जा सकता है? या ये दुःख समाज की किस त्रुटि, भूल, प्रमाद या दोष के परिणाम हैं? भविष्य में ये दुःख फिर पैदा न हों, इसके लिए क्या करना चाहिए? इस समय समाज, राष्ट्र और विश्व में क्या घटनाक्रम या गतिविधि चल रही है? कहां किसके साथ अनुबन्ध बिगड़ा या टूटा है? इस प्रकार का समग्रचिन्तन—सर्वांगी एवं सर्वक्षेत्रीय चिन्तन कार्यकर्ता के जीवन में होना चाहिये।

इसी प्रकार वह किसी एक ही विषय का विशेषज्ञ बन कर, उसी में ही अपने समग्र चिन्तन को बन्द न कर दे। कई बार सार्वजनिक रचनात्मकसंस्थाओं में देखा जाता है कि कोई बुनाई का विशेषज्ञ है, कोई हिसाब में माहिर है तो कोई उत्पादन के काम में विशेष जानकार है, या अमुक प्रकार का किसी को टेक्निकल ज्ञान है।

नहीं मिलता या आप ... नहीं मिलता। [illegible] जिनकी सेवा ... करती है, ... [illegible] नहीं है, या ... उनमें ... नहीं ... [illegible] समाज के ... [illegible] ऐसा ... [illegible] या विनाश ... [illegible] क्यों नहीं मिलता? परामर्श भी करे। किन्तु [illegible] नहीं। रचनात्मक कामकर्ता समाजरचना के पायक, समाजसेवी, या सामाजिकक्रान्ति के लिए कृतसंकल्प है, समर्पित व्यक्ति है। वह अपने विवेकपूर्वक स्वेच्छया किए गये जीवन के उद्देश्य के निश्चय की पूर्ति के लिए जीता है और उत्तरोत्तर तदनुकूल जीवन बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस दृष्टि से एक कुटुम्ब ही उसका परिवार नहीं, सारा समाज ही उसका परिवार है। उसका अपना कुटुम्ब समाज की पहली ईकाई है। सार्वजनिक संस्था उसके लिए दूसरी ईकाई है। सार्वजनिक संस्थाएँ चाहे वे समाजकल्याण का काम करती हों, या उत्पादन-विक्रय का, एक तरह से सीमित स्वार्थों और नैतिक कमी से ऊपर उठी हुई हैं। इस दृष्टि से जनसेवकसंस्थाओं की सारी सम्पत्ति, साज-सामान व साधनों को किसी एक व्यक्ति, या वर्ग के नहीं, बल्कि सारे समाज के मान कर, समाज के हित में उनका अधिक उपयोग हो तथा कोई भी व्यक्ति या स्वयं उनका दुरुपयोग न करे, इसका ध्यान रखे। संस्था की सफलता में सारे कार्यकर्ताओं का हिस्सा है और विफलता में उन सबका उत्तरदायित्व। अतः संस्था के उद्देश्य की सफलता में हर कार्यकर्ता को जुटे रहना है। कार्यकर्ता अपने आदर्श का सेवक है। अतः आदर्श-विरुद्ध संस्था के अहित में कार्य हो रहा तो प्रेम से वहाँ तप-त्यागात्मक अहिंसक प्रतीकार करना उसका और जिम्मेवार कार्यकर्ताओं का कर्तव्य हो जाता है। एक संस्था

के कार्यकरों में केवल सहयोग ही नहीं, अपितु सहजीवन और सह-अध्ययन बहुत जरूरी है। कार्यकर्ताओं के लिए इस प्रकार के स्नेह पैदा करने और बढ़ाने के मार्ग ढूंढने में ये दोनों चीजें लाभदायक हो सकती हैं। इनसे जीवन में सामूहिक सुखसुविधाओं और जीवन के संकटों के सामूहिक सहन में स्नेह पैदा होगा, जो जीवन के रस को सूखने नहीं देगा। इसके अतिरिक्त कार्यकरों को संस्था की आर्थिक स्थिति, उसकी मर्यादाएँ, स्वयं की ऐसी स्थिति में जिम्मेवारी अच्छी तरह समझने, साथ ही कार्यकर्ताओं की दिक्कतें और उन्हें दूर करने के उपाय सोचने का भरसक प्रयास करना चाहिये। संस्था और कार्यकर्ता में माता-पुत्र-सा स्नेहसम्बन्ध होना चाहिए। इसके सिवाय संस्थाओं के अनेक प्रकार की न्यूनाधिक योग्यता वाले कार्यकर्ताओं में परस्पर मालिक-मजदूरों या अधिकारी-कर्मचारियों जैसा व्यवहार न होना चाहिए। संस्था के अन्तर्गत कार्यकर्ताओं में आन्तरिक अनुशासन-स्वेच्छा से नियमन-की परम्परा डाली जानी चाहिए, जिससे सारा कार्य पूरी जिम्मेवारी और स्नेहभावना के साथ चलता जाय।

(४) प्रखरनिष्ठा—कार्यकर्ता में अव्यक्तबल, (जिसे ईश्वर, प्रकृति, निसर्गमैया, सत्य या काका कालेलकर के शब्दों में मांगल्य या चाहे कुछ भी कहें) संस्था और समाज के प्रति तीव्रनिष्ठा होगी। मतलब यह है कि मानवजीवन केवल अच्छा खाने-पीने, पहनने, भौतिक वासनाओं की तृप्ति करने या मौज उड़ाने के लिए ही नहीं है। इससे ऊँचे उठकर सोचना कार्यकर्ता के जीवन का उद्देश्य है। अपने शरीर से अलग शक्ति (चाहे उसे ईश्वर, आत्मा, अव्यक्तशक्ति (ॐ मैया) या समाज कुछ भी नाम दे दिया जाय)-का विचार उसके मन में दृढ़ होना चाहिये। उसकी या समाज की सेवा ही उसका उदात्त उद्देश्य है, उसकी सिद्धि के लिए जो कुछ भी उसकी प्रवृत्तियाँ या

मर्थन करने लग जाते हैं, इसमें विवेकपूर्वक जनता के हित का-
र नहीं है।

प्रखरनिष्ठा का एक अर्थ यह भी है कि कार्यकर्ता दृढ़निश्चयी हो।
। भी कार्य को अपनाना हो तो खूब सोच-समझकर उसकी भली-
सभी बातों पर विचार कर अपनाना चाहिये। उसकी सचाई के
में शंका हो तो और अधिक समझने की कोशिश करनी चाहिये।
त वृत्ति के लोग अपना जीवन स्वयं ही असफल नहीं करते, बल्कि
रों को–पार्श्ववर्ती समाज को–भी ले डूबते हैं, सेवक-संस्था को भी
ो नुकसान पहुँचाते हैं। अतः जिस मार्ग को सेवक ने बुद्धिपूर्वक
झ कर और अपनी रूढ़ियों तथा संस्कारों से सत्य के साथ तालमेल
। कर पकड़ा हो, उसमें फिर बार-बार शंका-कुशंका करके या किसी
र्य के सिद्ध न होने से अथवा प्रलोभन के आकर्षण से अस्थिरचित्त,
त्तरदायी या अविश्वासी नहीं बनना चाहिये। जो सेवक आज
चीज को अच्छा कहता है, कल उसे खराब कहने लग जाता है,
सेवक पर से जनता का विश्वास उठ जाता है। कभी-कभी
चित महत्त्वाकांक्षा के कारण सेवक एक कार्य को छोड़ दूसरा और
रे को छोड़ तीसरा अपनाता है, तब उसमें पहले-पहले कार्यक्रम पर
न अविश्वास और बाद में घृणा पैदा हो जाती है, जो उसके
ंयम या ज्ञान की न्यूनता का परिणाम है। इसलिए जिस किसी
ं, विचार, पद्धति या सिद्धान्त को सेवक पकड़े, पहले उस पर खूब
कपूर्वक छानबीन कर ले; बाद में दृढ़निष्ठा के साथ उसमें संलग्न
जाय।

(५) अटूट धैर्य—कार्यकर्ता में धैर्य का गुण काफी मात्रा में
ा चाहिये। कई दफा छोटे-छोटे कार्य भी उसके लिए कठिन हो
े हैं, छोटी-छोटी बाधाएँ भी उसकी सारी शक्ति खींचने लगती हैं।

उस समय धैर्य खोकर यह न सोचे कि अब कहां तक इस काम को घसीटते रहना है ? परेशानी, हैरानी, मुसीबत या विघ्न-बाधाओं के बीच भी वह अपने धैर्य का दीपक न बुझने दे। जनता के शीघ्र सुधार की धुन में अगर वह उग्रभाषा में या अपशब्दों में जनता के दुर्गुणों का पर्दाफाश करने लगेगा तो उसकी की-कराई सारी जनसेवा पर पानी फिर जायगा। सेवक का काम धैर्यपूर्वक दृढ़गति से आगे बढ़ना है। परिणाम की उतावली करना ठीक नहीं। जो सेवक यह चाहता है कि समाज में झटपट सुधार हो जाय, जनता शीघ्र बदल जाय, अथवा सत्याग्रह या शुद्धिप्रयोग का परिणाम तुरन्त आ जाय, अथवा अपने कार्य का बदला लोग उसे प्रतिष्ठा के रूप में फौरन दे दें, तो यह सब उसके धैर्य-ध्वंस का परिचायक है।

जनसेवक यह बात सदा ध्यान में रखे कि यश के फूल दीर्घकालीन कर्त्तव्यवृक्ष पर ही खिलते हैं। अगर उसने प्रतिष्ठापुष्पों के प्रलोभन में आकर कर्त्तव्यवृक्ष को तुरंत ही रौंद डाला, उतावली में आकर कर्त्तव्यतरु को काट डाला तो वृक्ष तो जायगा ही, साथ ही वह फूल (यश), पत्ते (अधिकार), फल (मान-पूजा-प्रतिष्ठा) आदि सबको सुखा डालेगा। अगर सेवक थोड़ी सी सेवा करके बदले में बहुत सा यश पाना चाहेगा; थोड़ा सा कार्य करके अधिक वेतन, अधिक धन पाना चाहेगा तो यह सौदेबाजी ऐसी होगी जो थोड़ी-सी की हुई सेवा को [illegible] कर देगी और वह सेवक समाज की आंखों में सेवक नहीं, [illegible] रह जायेगा। थोड़ा देकर अधिक लेने, धन-संग्रह करने [illegible] की लिप्सा सेवकत्व को नेस्तनाबूद कर देगी। [illegible] पड़ेगी, जो सेवक की मूल्यांकन [illegible] कर देगी। अतः अधिक धन या यश की लिप्सा को छोड़ [illegible] सेवा करना ही सेवक का सच्चा धर्म है। [illegible] सेवक को [illegible]

के शब्दों में मांगल्य पर दृढ़-विश्वास होना चाहिये। धैर्य ही सेवक के विकास का कारण बनेगा।

(६) अविरत पुरुषार्थ—जनसेवक का मानस ऐसा बन जाना चाहिए कि दिनभर अपने जिम्मे का काम करने के बाद भी समाजसेवा का या किसी व्यक्ति को अपार संकट के समय मदद देने का काम आ पड़ा तो ननु-नच किये बिना तुरंत उठ खड़ा होना चाहिये। काम, काम और काम की सतत जागृति और पुरुपार्थ का माद्दा प्रत्येक कार्यकर्ता में होना ही चाहिये। अनंतशक्तिशाली आत्मतत्त्व पर विश्वास रखने वाला और धैर्यशील व्यक्ति बिना रुके, बिना थके, हार खाए बिना सतत पुरुषार्थ करता ही जायगा। श्रद्धा और धैर्य से उसके जीवन में कर्मठता और पुरुपार्थ की प्रचंड शक्ति पैदा होगी। आलस्य उसके पास फटकेगा नहीं; प्रमाद उसके जीवन का रस चूस नहीं सकेगा। समाजसेवा का उत्साह उसके रग-रग में भरा होगा। अवस्था में प्रौढ़ या वृद्ध होगा तो भी समाजरचना के प्रयोग के हर एक कार्यक्रम में स्फूर्ति के साथ भाग लेगा; नैतिक हिम्मत हारेगा नहीं। बल्कि दूसरों को पुरुपार्थ के लिए प्रोत्साहन देगा। वृद्धावस्था में, शरीर से अशक्त होने पर भी समाज के हर अंग और कुटुम्ब से लेकर नगर, गाँव, प्रान्त, राष्ट्र, संस्था, समाज या विश्व तक को अपने अनुभव का लाभ देता रहेगा। इस प्रकार समाजसेवा के सतत विचार और व्यवहार से परिपक्व होकर सेवक की निष्ठा समग्रसमाजव्यापी या विश्वव्यापी बन जायगी। समाज-धारण और समाजसेवा का यह सातत्य ही उसकी साधना बन जायगी।

(७) लोकश्रद्धेय चरित्र—जनसेवक का चरित्र लोकविश्वस्त हो। इसके दो विभाग हैं—(१) शारीरिकचारित्र्य और (२) आर्थिक-

ित्र्य। शारीरिकचारित्र्य से मतलब है पवित्रता और सदाचार।
क इतना शीलवान हो कि किसी भी महिला को उसके पास जाने
ज़रा भी झिझकिचाहट न हो, इतना उसका विश्वास नारीसमाज में
प्त हो जाय। महिलाकार्यकर्त्री के लिए 'पुरुषसमाज का विश्वास
वश्यक है। यदि किसी कार्यकर्ता का शारीरिकचारित्र्य विश्वसनीय
ीं होगा, वह व्यभिचारी होगा या शराबी, वेश्यागामी या जुआरी
ारिया) होगा तो ऐसे मनुष्य के पास जाने में स्त्रियां तो क्या,
र भी सलामती नहीं समझेंगे। समाज ऐसे व्यक्तियों से सेवा
में साशंक रहेगा। आर्थिक-चारित्र्य का मतलब है—सेवक
ामाणिक हो, पाई-पाई का हिसाब साफ रखता हो, छोटी-सी बात
ज़रा भी गोलमाल न हो। प्रामाणिकता तो सार्वजनिक जीवन का
य गुण है। किसी खास कार्य के लिए समाज ने सेवकसंस्था को
दिया हो तो वह उसी कार्य में लगाए। जनता का दिया हुआ
भी पैसा जिसके हाथ में आया है, उसको अपना हिसाब साफ
ना चाहिये, अन्यथा लोगों का विश्वास उठ जाता है। इससे
ा की भी हानि होती है, अपने व्यक्तित्व और यश की भी हानि
ी है। [illegible] संस्था के अन्य कार्यकर्ता और सदस्य भी संस्था का
[illegible] पैसा [illegible] न करें और अपने कार्य के निमित्त खर्च को
[illegible] के काम के निमित्त खर्च में न गिनें। संस्था के पैसे
[illegible], काम में चोरी न हो, इतनी कार्यतत्परता भी कार्य-
[illegible] चाहिए। इस प्रकार लोकसेवक सच्चरित्र का [illegible]
[illegible] में प्रामाणिकता, हिसाब की सफाई, कार्यतत्परता,
[illegible], [illegible], [illegible] तथा [illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]

विसंगति न हो, तभी उसका चारित्र्य लोकश्रद्धेय—जनविश्वसनीय बन सकता है। व्यक्तिगत जीवन में वह अपने स्त्री-पुत्र, नौकर-चाकर, कुटुम्बियों आदि के साथ अन्याययुक्त व्यवहार करता हो, निजी लेनदेन में वह प्रामाणिक न हो, नैतिकता का बहुत ध्यान न रखता हो; ऐसा सोच कर कि "लोगों को मेरे निजी (Private) जीवन में झांकने से क्या मतलब है? हमारा केवल बाहरी और सार्वजनिक जीवन ठीक होना चाहिए।" इसलिए सार्वजनिक या बाहरी जीवन में वह सही तरह से रहता है, शुद्ध रहता है विनय-पूर्वक बोलता है, एकदम जैसा चाहिये वैसा ही व्यवहार करता है, कपड़े-लत्ते और रहनसहन में भी बिलकुल साफसुथरा बाहर आता है। तो ऐसा जीवन लोकश्रद्धेय नहीं हो सकता। अथवा कोई सेवक अपने व्यक्तिगत जीवन में बहुत सादा, प्रामाणिक और शुद्ध रहता है; ईमानदारी का पूरा ध्यान रखता है, दूसरे एक के हक को जरा भी नहीं कुचलता; किन्तु समाज या संस्था के फायदे या हित के लिए, बिरादरी या देश के लाभ के लिए झूठ बोलता है, बेईमानी करता है, इन्कमटैक्स आदि की चोरी करता है। दूसरे देश, समाज या संस्था के लोगों के साथ दगा करता है, उनकी कमजोरी, मजबूरी या नासमझी का देशभक्त, समाजसेवक या संस्था-हितैषी बनने के लिहाज से फायदा उठाता है तो वह भी लोकश्रद्धेयचरित्र वाला सेवक नहीं कहला सकता। इसका परिणाम यह होता है कि कार्यकर्ता के सदाचार के दो पैमाने बन जाते हैं—एक पैमाना घर—या व्यक्तिगत जीवन का और दूसरा बाहरी या सार्वजनिक जीवन का। बंटे हुए जीवन—विभाजित व्यक्तित्व—के ये दोनों ही प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकर सिद्ध होते हैं। व्यक्ति की अन्तरात्मा पतित होती है, सामाजिक जीवन अशुद्ध बनता है। सेवक का जीवन समग्र है; इसलिए उसका सदाचार भी समग्र होना चाहिए। जो सदाचार

व्यक्तिगत जीवन में ग्राह्य है, प्रशंसनीय है, वही सदाचार सामाजिक जीवन में ग्राह्य और आदरणीय हो, तभी चरित्र लोकश्रद्धेय होता है।

(८) चार गुणत्रिपुटियां—कार्यकर्ता में निम्नलिखित चार गुण-त्रिपुटियाँ भी होनी आवश्यक हैं। (१) सत्यता, वीरता, अगुप्तता; (२) नियमितता, व्यवस्थिता और उपयोगिता; (३) सत्य, प्रेम और न्याय; (४) प्रार्थना, सफाई और कताई। इन चारों त्रिपुटियों को सेवक अपने जीवन में स्थान नहीं देगा तो अन्य गुण विकसित नहीं हो सकेंगे। उसके सामने प्रयोग का ध्येय—विश्ववात्सल्य स्पष्टरूप से ध्रुवतारे की तरह चमकता रहना चाहिए। ये चार त्रिपुटियाँ उसी विश्ववात्सल्यधारा की पूरक हैं।

प्रथम त्रिपुटी—ये तीनों गुण परस्पराश्रित हैं और कार्यकर्ता की मूलनिष्ठाएँ हैं। सत्य की शोध और सत्याचरण कार्यकर्ता के जीवन का लक्ष्यबिन्दु है। वह समाज का सेवक है, गुलाम नहीं। अगर वह सत्यता को छोड़ कर जनता के लिए अहितकर और विकासघातक बात करने जायगा, ठकुरसुहाती कहेगा, चापलूसी करेगा तो वह सत्य का पुजारी नहीं रहेगा। साथ ही वीरतापूर्वक नम्र शब्दों में किसी गलत बात का विरोध करने की भी उसकी हिम्मत होनी चाहिए। इसके साथ ही कोई बात छिपाने या अपनी शक्ति को छिपाने की आदत कार्यकर्ता में न होनी चाहिए। वास्तव में कार्यकर्ता का जीवन, आचरण और व्यवहार एक खुला पुस्तक होना चाहिए। उसे अपनी कमजोरी, भूल या अपराध को न व्यक्तिगतजीवन के नाम पर छिपाना चाहिए और न संस्थागत या सार्वजनिक जीवन के नाम पर उसका समर्थन ही करना चाहिए।

दूसरी त्रिपुटी—जनसेवक में समय की पाबन्दी का गुण अवश्य
ना चाहिए। इससे लोकविश्वास और लोकशिक्षण भी बढ़ेगा और
समय में स्वस्थतापूर्वक अधिक काम हो सकेगा। साथ ही आलस्य
इन्द्रियविषयों के प्रति प्रमत्तता या आसक्ति भी नियमितता के पालन
कम होती जायगी। इसके साथ व्यवस्थितता भी सेवक के जीवन
विकसित करने वाला गुण है। कई कार्यकर्ता दाढ़ीमूछों और सिर
बाल बेतरतीब बढ़ाये हुए, रूखे और गंदे रहते हैं, कपड़े भी गन्दे
ने रहते हैं, धोती, कमीज या कुर्ते का भाग इधर-उधर लटकता रहता
हाथ-पैर भी और आँख-नाक भी साफ नहीं रखते। उनके रहने का
ान भी गंदा होता है। वहाँ कचरा और जाले जमे होते हैं। घर
चीजें भी अस्तव्यस्त पड़ी रहती हैं। उनसे कोई पूछे, तो तरह-तरह
उत्तर मिलेंगे—(१) अरे भाई! काम से ही कहाँ फुरसत है? (२)
में तो सादी जिन्दगी बितानी है। चमक-दमक और टापटीप से
या करना है? (३) सफाई कहाँ से रखें? खर्च ही नहीं चलता है।
) अब हमारी कौन-सी जवानी है? बहुत गई थोड़ी रही।" ये सारे
बाब जीवन के प्रति गलत दृष्टिकोण के और अपनी अव्यवस्थितता,
ालस्य और असावधानी को छिपाने के झूठे आवरण हैं। कार्यकर्ता
माज का प्रशिक्षक है। वह अगर इन बातों में जागरुक न होगा
समाज उससे क्या प्रेरणा लेगा? अतः व्यवस्थितता का गुण तो
ार्यकर्ता में होना ही चाहिए। उपयोगिता भी कार्यकर्ता के जीवन में
ोनी चाहिए। हर बात में उपयोगिता-दीर्घदृष्टि से विवेकपूर्ण विचारपूर्ण
ा जाय तो कार्यकर्ताओं में होने वाले ईर्ष्या, द्वेष, सुविधा-असुविधा,
र्तव्याकर्तव्य या अधिकार-अनधिकार के मसले तुरन्त हल हो
कते हैं।

तीसरी त्रिपुटी—सत्य सिद्धान्त या तत्त्व अर्थ में है प्रेम वात्सल्य

कॉंग्रेस (राज्यसंस्था)

प्रयोग का राजनैतिक दृष्टिकोण

'धर्ममय समाजरचना के इस प्रयोग का राजनैतिक दृष्टिकोण क्या रहेगा ?'; यह विचार भी यहां कर लेना आवश्यक है।

कई विचारकों का मत है कि एक दिन ऐसा आएगा, जब समाज में शासन की जरूरत ही न रहेगी; दण्ड या सजा भी न रहेगी; मानवजाति स्वयंस्फुरणा से ही ऐसा व्यवहार करेगी कि कोई किसी का शोषण न करेगा; कोई किसी पर अन्याय; अत्याचार नहीं करेगा; सभी सर्वहितकर विचार या व्यवहार करेंगे। ऐसी आदर्श स्थिति में दण्डशक्ति (शासन) की कोई आवश्यकता न रहेगी, यह स्वाभाविक है।

ऐसी आदर्श (शासनमुक्त) स्थिति समाज में पैदा हो, उसके लिए श्रद्धा रखना और उस दिशा में पुरुषार्थ करना; एक बात हुई। मगर सामाजिक व्यवहार तो वर्तमान में समाज की स्थिति के अनुरूप ही निश्चित करना पड़ेगा। हां, उक्त उच्च आदर्श हमारी दृष्टिसमक्ष रहेगा, व्यवहार की दिशा भी उसी तरफ रहेगी; लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार तो हमें आज ही सामाजिक परिस्थिति को मद्देनजर रखते हुए ही निश्चित करना होगा। अतः जनजीवन के सभी क्षेत्रों में हमें इसी दृष्टि से काम करना होगा और इसी रीति से व्यवहार भी तय करना होगा; जिससे शासनशक्ति (राज्यसत्ता) क्रमशः क्षीण होती चली जाय और जनता की नैतिक शक्ति बढ़ती चली जाय।

साथ ही, हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि आज सारा विश्व परस्पर एक-दूसरे राष्ट्रों से जुड़ा हुआ है; इसलिए एक राष्ट्र अकेला उस आदर्श की दिशा में जाना भी चाहे तो बहुत आगे नहीं जा सकेगा। उसके लिए विश्व की परिस्थिति उक्त आदर्श को व्यवहार्य

बनाने में पृष्ठपोषक बनानी होगी। तथा राष्ट्र की शासननीति को भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभावशाली हिस्सा अदा करना होगा। उसे आन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निम्नोक्त दृष्टिकोण रखना आवश्यक होगा—

(१) विश्व के शान्ति-इच्छुक परिबलों का समर्थन करना।

(२) विश्व के लोकतन्त्रीय परिबलों की मदद करना।

(३) उपनिवेशवाद का विरोध करना।

(४)अनाक्रमणनीति, अन्य राष्ट्रों की आन्तरिक बातों में अहस्तक्षेप, शान्तिमय सह-अस्तित्व और राष्ट्रों के पारस्परिक सहकार की नीति का पालन करना, कराना।

(५) अणु-अस्त्र-प्रतिबन्ध और शस्त्रास्त्रप्रतिबन्ध की नीति में स्वयं विश्वास रखना, अन्य राष्ट्रों को इसके समर्थक बनाना।

(६) सैनिकसन्धि वाले गुटों से दूर रहना।

(७) दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी, सक्रिय तटस्थता रखना।

इसी प्रकार उक्त आदर्श को समाज में व्यावहारिक बनाने के लिए राष्ट्रीय क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन करने का काम शासन को मुख्यतया दण्डशक्ति द्वारा नहीं; अपितु जनता की नैतिक शक्ति द्वारा करना चाहिए। साथ ही सम्प्रदाय-निरपेक्षता, सर्वधर्मों के प्रति समानता का व्यवहार, सत्ता का विकेन्द्रीकरण, कृषि-ग्रामोद्योग-पशुपालनरूप धंधों का विकेन्द्रीकरण, मद्यनिषेध; इन सब अंगों पर देश की अर्थनीति, भाषानीति और समाजनीति निर्भर होनी चाहिये।

इस प्रकार आन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र और राष्ट्रीयक्षेत्र में उपर्युक्त राजनीतिक दृष्टिकोण से काम हो तभी धर्ममय या अहिंसक समाजरचना साकार हो सकती है। सवाल यह होता है कि इस रीतिनीति से व्यवहार निश्चित करने या काम करने की कार्यक्षमता, योग्यता, दृष्टि और नेतृत्वशक्ति हमारे देश की किस राजनैतिक संस्था में है?

हमारी दृष्टि से भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कॉंग्रेस) में ही ऐसी योग्यता, कार्यक्षमता और नेतृत्वशक्ति है। स्वराज्यप्राप्ति के पहले की इसकी कार्यवाही, ऐतिहासिक परम्परा और नेतृत्व को देखते हुए कांग्रेस संस्था से इन सबकी अपेक्षा रखा जाना स्वाभाविक है। इसीलिए प्रस्तुत प्रयोगमान्य सुसंगठनों में चतुर्थ स्थान राष्ट्रीय महासभा (कॉंग्रेस) को दिया गया है।

कॉंग्रेस ही क्यों ?

हमारे कई विचारक महानुभावों और लोकसेवकों को कॉंग्रेस का नाम लेने की चिढ़ चढ़ती है और वे तुरन्त ही कह बैठते हैं—"कॉंग्रेस की क्या जरूरत है?" परन्तु वे यह भूल क्यों जाते हैं कि राज्यसंस्था (शासन) अभी खत्म होने वाली नहीं; और उनके पास वर्तमान राज्यसंस्था के विकल्प में दूसरी ऐसी कोई शासकसुसंस्था भी तो नहीं है। [illegible] वर्तमान राज्यसंस्था (कॉंग्रेस) को शुद्ध करने, उस पर अंकुश रख कर उसे सिद्धान्तपथ से च्युत होने से रोकने की मुख्य जिम्मेवारी से भाग कर केवल राज्यसंस्था (कॉंग्रेस) को खत्म करने की बात कह कर क्या वे अधिनायकवादी, हिंसावादी (तोड़फोड़, या अशुद्ध-साधन- [illegible]) साम्यवादी, पूंजीवादी या सत्तावादी पक्ष का शासन लाना [illegible] कॉंग्रेस या किसी भी राजनैतिक संस्था [illegible] नहीं करेंगे तो राजनैतिक क्षेत्र में अवकाश (Vaccume) [illegible] मौका पाकर [illegible] विरोधी पक्षों में से एक [illegible] आ जायगा। ऐसा करना तो देश की आजादी और [illegible] भारतीय संस्कृति और [illegible] अधिनायकवाद, साम्यवाद या हिंसावाद [illegible] और [illegible] [illegible] है।

माध्यम से या भारतराष्ट्र की जनता के माध्यम से। देश के सामने वे अहिंसक समाज का एक सुन्दर चित्र छोड़ गये। परन्तु वह चित्र सक्रियरूप धारण करे, उसके पूर्व ही वे हम से विदा हो गए। अहिंसक समाजरचना का कार्य अधूरा रहा। अब यदि अहिंसा को सभी क्षेत्रों में सारे विश्व में विजयी बनाना हो तो राजनैतिक क्षेत्र में इसके लिए वाहक कांग्रेस ही हो सकती है। अगर हमें अहिंसा को समाजगत और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्याप्त करना हो तो जो संस्था राजनैतिक तख्ते पर अहिंसा के अधिक निकट हो, जिसके सिद्धान्त कौमवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकतावाद, रंगभेदवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यविस्तारवाद, पूंजीवाद, आक्रमणवाद या हिंसावाद आदि से ऊपर उठ कर विश्वव्यापी हों, मानवतालक्षी हों; उसे प्रबल क्यों नहीं देना चाहिये? अहिंसक समाजरचना की दिशा में नये मूल्य स्थापित करने का काम जनसेवकों और साधुओं का है। इन नये मूल्यों को समाज जितने अंशों में स्वीकार करता है, राज्यसंस्था (शासन) उन्हें कानून का रूप देकर लोकजीवन में स्थिर करती है। यह भी तो अहिंसक समाजरचना की दिशा का कार्य है। देश की रचनात्मक शक्ति आगे से आगे दौड़ती जाय, समाज को उसकी बात स्वीकृत न हो तो दोनों के बीच बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। वैसे वातावरण के अभाव में समाज में अहिंसा की स्थापना या तो आदर्श बन कर रह जाती है या रुक जाती है। तब वर्षों से जिस संस्था का निर्माण महात्मा गाँधीजी ने जैसों द्वारा भारतीय संस्कृति के मंत्रों एवं सत्य-अहिंसा के सिञ्चन से हुआ है, जिसकी बुनियाद में त्याग-बलिदान पड़ा है, जिसका संस्थागत मूल्य अब भी कायम है, ऐसी एक राष्ट्राधार बन सकने, अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र की राजनीति को शुद्ध कर सकने तथा अहिंसा का संदेश पहुँचा सकने वाली शक्तिशाली संस्था-कांग्रेस-को प्रोत्साहन क्यों न दिया जाय? अहिंसा को सारे समाज

में व्याप्त करना हो तो इसकी मदद लिए बिना और कौन-सा उपाय है ?

वर्तमान परिस्थिति में सभी राष्ट्रों में भय और आशंका का वातावरण, शस्त्रनिष्ठा और सैनिक गुटबन्दियों से पैदा हुई युद्ध-स्फोटक परिस्थिति ज्वलंत विश्वसमस्या है। इस विश्वसमस्या का सही हल है—युद्ध को रोकना, शान्तिविस्तार बढ़ाना, परतंत्रता और उपनिवेशवाद से मुक्ति दिला कर लोकतंत्रों को स्थापित करने में जगत् के राष्ट्रों को नैतिक सहायता देना, विश्व में सक्रिय तटस्थबल के रूप में रहना और स्वयं नैतिकशक्तिसम्पन्न होकर विश्वराष्ट्रों की राजनीति पञ्चशील के मंत्र से शुद्ध रखना। इस विश्वसमस्या को हल करने में भारतीय राष्ट्रीय महासभा के ही प्रतिनिधित्व द्वारा महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा किया है। जो दूसरे किसी भी राजनैतिक पक्ष या सामाजिक-धार्मिक संस्था ने नहीं किया।

कांग्रेस और अन्य राजनीतिक पक्ष

प्रत्येक संस्था या राजनैतिक पक्ष की जांच करने के तीन पैमाने हैं—(१) उसकी बुनियाद क्या है ? (२) उसका प्रेरकबल (प्रेरणा का मूल) क्या है ? और (३) उसका निर्माण कैसे संयोगों में हुआ है ? हम देखते हैं कि कांग्रेस की बुनियाद है—अहिंसक ढंग से साम्राज्यवाद से भारत का और विश्व के सभी राष्ट्रों को मुक्ति दिलाना। इसका उदाहरण है—गोआ को पोर्तुगीज शासन से मुक्त करना। [illegible] सरकार चाहती तो कुछ ही घंटों में यह मसला हल कर सकती थी। [illegible] गोआ की जनता की मांग सुनी और पोर्तुगीज [illegible] से [illegible] और समझा-बुझा कर मसला हल करने [illegible]। दूसरे राजनैतिक पक्षों ने भी गोआ में [illegible]

जत्थे भेजे थे। किन्तु वे अन्त तक टिके न रह सके। उन्होंने कई कानूनी-मर्यादाओं का भी भंग किया।

कांग्रेस का प्रेरक बल है—लोकशाही द्वारा वैधानिक तरीकों से शान्ति स्थापित करना। यही कारण है कि संयुक्त-महाराष्ट्र-परिषद् द्वारा बम्बई को महाराष्ट्र में मिलाये जाने का प्रस्ताव पारित करने, अन्य पक्षों द्वारा दंगे व तोड़-फोड़ में सहायक बन जाने तथा श्रीशंकर-राव देव और गोलवेलकरजी के भी उसमें पृष्ठपोषक बन जाने एवं श्री देशमुख द्वारा बम्बई को महाराष्ट्र में मिलाये जाने के लिए दबाव डाला जाने पर भी पं० नेहरू ने कहा—"हम लोकतन्त्रीय वैधानिक तरीके (बहुमत-प्राप्ति) से बम्बई को महाराष्ट्र में मिला सकते हैं, किसी व्यक्ति के दबाव से नहीं। अगर उस समय उनके दबाव में आकर चुनाव में बहुमत मिल जाने के लोभ से पं० नेहरू (काँग्रेससंस्थागत) ऐसा कर लेते तो कहा जाता कि कांग्रेस का प्रेरकबल चुनाव जीतना है। काश्मीर के प्रश्न को कांग्रेस सरकार चाहती तो लश्कर द्वारा शीघ्र ही हल कर लेती। परन्तु उसे इस समस्या को शान्तिमय वैधानिक तरीके से सुलझाना है। तभी तो इतने वर्ष हो गये काँ० सरकार प्रतिदिन लगभग एक लाख रु० से ऊपर का फौजी खर्च सहन कर रही है। अभी जनता, विरोधीपक्षों और कई कांग्रेसजनों का विरोध होते हुए भी कां० सरकार ने राष्ट्रहित की दृष्टि से साहसपूर्वक एक झटके में रुपये का अवमूल्यन कर दिया। अगर चुनाव में बहुमत पाना ही उसका प्रेरकबल होता तो वह ऐसा कदापि न करती।

अन्य राजनैतिक पक्षों में यह बात नहीं मिलेगी; क्योंकि उनकी बुनियाद और प्रेरकबल ही दूसरे हैं। और वे भारतीय राज्यव्यवस्था-नुकूल नहीं हैं। उदाहरणार्थ—प्रजासमाजवाद या समाजवाद की बुनियाद है—सत्ता द्वारा क्रांति (या सेवा)। उसका प्रेरकबल है—चाहे जिस

कांग्रेस की सिद्धान्तनिष्ठा

अहिंसा के सिद्धान्त को विधान में स्थान न देने पर भी कांग्रेस के कई कर्मठ सदस्यों में आज भी अहिंसा का खमीर स्पष्ट नजर आता है। वास्तव में सर्वांगीसंस्था की दो कसौटियां हैं—(१) जो सिद्धान्त के लिए चाहे जैसा खतरा उठा ले; संस्था तक की परवाह न करे (२) जिसमें सिद्धान्त-निष्ठ व्यक्ति ज्यादा हों। इन दोनों कसौटियों पर कांग्रेस को कसते हैं तो वह दूसरे राजनैतिक पक्षों से ज्यादा अच्छी और खरी नजर आती है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कांग्रेस ने सिद्धान्तरक्षा के लिए सुभाष, नरीमेन, खरे गाडगिल, देशमुख आदि प्रभावशाली व्यक्तियों की परवाह न की और उनकी सेवाओं और सदस्यता का स्वीकार न किया। दूसरे पक्षों ने कई जगह सत्य-अहिंसा को ताक में रख कर, असत्य या हिंसा का आश्रय लेकर, असत्य-हिंसावादी पक्षों के साथ गठजोड़ करके सिद्धान्त का भंग किया है। परन्तु कांग्रेस आज भी राजनीतिक स्तर की अहिंसा, सत्य (राष्ट्रीय न्याय) का पालन भलीभांति करती है।

काँग्रेस संस्था भव्य है, यानी सिद्धान्तलक्षी है। और 'भवन्ति भव्येषु हि पक्षपातिनः' (विचारवान लोग भव्यों का पक्ष लेते हैं) इस भारतीय संस्कृति के सूत्रानुसार भी काँग्रेस का पक्ष लेना देश और विश्व के लिए श्रेयस्कर है। भव्यपक्ष का यहाँ अर्थ होगा—जिस संस्था (पक्ष) की राजनैतिक दृष्टि सर्वांगी हो और जिसकी वृत्ति राजकीय स्तर के सत्य-अहिंसा को टिकाए रखने की हो। जो पक्ष मौका आने पर असत्य-हिंसा से भी काम चला लेता हो, या चला लेने में मानता हो, वह पक्ष अभव्य है। उसकी राजनीति एकांगी है। दूसरी कोई भी राजनैतिक संस्था संस्थागतरूप से इतनी सैद्धान्तिक नहीं, जितनी कांग्रेस है। बल्कि अन्य राज० संस्थाओं में असैद्धान्तिकता के ही

जमघट नहीं; न कांग्रेस का अर्थ संख्या है, न तीन अक्षरों का नाम ही कांग्रेस है; अपितु कांग्रेस के महानतम सिद्धान्त हैं। सैद्धान्तिक कांग्रेस ही वास्तविक काँग्रेस है; जिसका निर्माण महात्मा गाँधीजी ने किया है। संस्था का मतलब केवल उसके व्यक्तियों से नहीं होता। व्यक्ति तो आज हैं, कल निकल भी सकते हैं। किन्तु संस्था के माने हैं—उसका ध्येय और उसे उत्तराधिकार में मिले हुए संस्कार; जिनसे अनेक व्यक्तियों का जीवननिर्माण होता है। हम केवल व्यक्तियों को देख कर जो मन्तव्य कांग्रेस के सम्बन्ध में बांधते हैं, वह सर्वांशतः औचित्य की दृष्टि से ठीक नहीं। व्यक्ति तो साधुसंस्था जैसी उच्च-संस्था में भी आज आशानुरूप नहीं मिलेंगे। इसलिए तात्त्विक कांग्रेस ही प्रयोगमान्य कांग्रेस है। और चूंकि विश्ववात्सल्यध्येययुक्त प्रस्तुत धर्ममय समाजरचना के प्रयोग में ऐसी सुसंस्था की भी जरूरत है, जो विश्व में (अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिकक्षेत्र में) वात्सल्य फैलाने और शुद्ध धर्म-नीति के प्रयोग में समाजरचना के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में ायक और उपयोगी हो, भले ही वह राजनीतिक क्षेत्र के मंच से हो। ीलिए यह प्रयोग कांग्रेस का समर्थन करता है।

बापू की चरणचुम्बिनी कांग्रेस आज विश्व के प्रांगण में खड़ी हुई ारत की महान राजनैतिक शक्ति है। वह विश्वलक्षी विशाल दृष्टिकोण ़ने; अपनी मर्यादा के अनुरूप राजनैतिक कक्षा के सत्य-अहिंसा ा आचरण स्वयं करने और विश्वराष्ट्रों के प्रवाहों, संकटों और ़ःखों का चिन्तन करने वाली संस्था है। वह शान्तिमय वैधानिक रीकों से रचनात्मक और संघर्षात्मक दोनों दिशा में कार्य करने वाली और शुद्धि और दृढ़ता के लिए आत्मनिरीक्षण करके अपनी भूलें ुधारने वाली अनुशासनबद्ध संस्था है। अपने प्रत्येक सदस्य को वह जातिवाद, कौमवाद, प्रान्तवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, दंगावाद के संकीर्ण घेरे से बाहर निकाल कर विश्वविशाल राष्ट्र के हित में

काम पूर्वोक्त दोनों बल ही करें तो कांग्रेस जागृतिपूर्वक एक के बाद एक नैतिक विजय देश और विश्व में प्राप्त कर सकती है; वह शुद्ध और पुष्ट बन कर राजनैतिक स्तर का अहिंसा-सत्य की दिशा में प्रगति कर सकती है। यदि भालनलकांठा-(गुजरातवर्ती) प्रयोग की तरह देशभर में जनता और जनसेवकों के संगठन क्रमशः पूरक-प्रेरक बन जांय तथा इन्टक सहित सभी जनसंगठन कांग्रेस के साथ राजनैतिक-क्षेत्रीय मातृत्व (वात्सल्य) सम्बन्ध रखें, साथ ही कांग्रेस भी पूर्वोक्त दोनों बलों के द्वारा अपने पर नैतिक नियंत्रण, प्रेरणा और शुद्धि के कार्य को मान्य रखे तो जनसंगठन अवश्य ही उसे मतों से निश्चिन्त बना सकते हैं और सिद्धान्त छोड़ कर उसे कभी-कभी जो अनावश्यक समझौते करने पड़ते हैं, विरोधी पक्षों के साथ गठबन्धन करना पड़ता है; उनसे वह मुक्त होकर विरोधी पक्षों से खुल कर टक्कर ले सकती है। वैसे भी इस देश की अनोखी लोकशाही की खासियत के अनुसार विरोधीपक्षों की जरूरत भी नहीं है; उन्हें खण्डनात्मक पद्धति छोड़ कर रचनात्मक पद्धति अपना लेनी चाहिए। प्रस्तुत प्रयोग के अनुभवी प्रयोगकार कांग्रेस के गलत राह पर जाने पर कड़ी से कड़ी आलोचना भी करते हैं और अच्छी राह पर जा रही हो तब उसकी प्रशंसा और समर्थन भी करते हैं। यही कारण है कि विश्ववात्सल्य-साधक कांग्रेस की अशुद्धि और शुद्धि को अपनी अशुद्धि और शुद्धि मान कर उसकी अशुद्धि (गंदगी) दूर करने और गुणग्राही बन कर उसकी पुष्टि करने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

यदि उपर्युक्त तरीकों से काम होने लगे तो आज जो कांग्रेस में शहरलक्षीदृष्टि वाले एवं पाश्चात्य विचारों में रंगे हुए लोग घुसने लगे हैं, उनके बदले शुद्ध भारतीय संस्कृतिलक्षी एवं ग्राम (लोक) लक्षी दृष्टि वाले लोग मंडल-समितियों के माध्यम से कांग्रेस में आने लगेंगे

इस प्रकार 'ग्रामकांग्रेस' रूपी राजकीयसंस्था कांग्रेस से बाहर रह कर क्रमशः राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक दबाव लाकर, अन्दर रहे हुए ग्रामलक्षी कांग्रेसियों द्वारा वर्तमान कांग्रेस का ग्रामलक्षीकायाकल्प कर डालेगा।

क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग

धर्ममय समाजरचना के प्रयोग में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान अथवा सबसे अधिक जिम्मेवारी का शिरोमणि-स्थान क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग का है। वह समाजरचना का मुख्य स्तम्भ है। उसे दूसरे शब्दों में मार्गदर्शक, आध्यात्मिकप्रेरक, अनुबन्धकार, उत्कृष्ट शान्तिसैनिक, शुद्धिकार, विश्ववत्सल या विश्वकुटुम्बी संत, साधु, संन्यासी, श्रमण, मुनि, भिक्षु, समाजयोगी आदि अनेक नामों से पुकारा जा सकता है। सारे प्रयोग की जिम्मेवारी सर्वप्रथम उसकी रहेगी। उसकी दृष्टि, कार्यक्षमता, योग्यता, आध्यात्मशक्ति, जितनी व्यापक और गहरी होगी, जितनी स्पष्ट और सर्वांगी होगी, जितनी सर्वक्षेत्रस्पर्शी और सर्वांगपूर्ण होगी, उतना ही वह समाज का नवनिर्माण अधिक अच्छा, अधिक धर्मयुक्त और अधिक संस्कृतिपरिपूर्ण कर सकेगा। विविध धर्म के साधु-संन्यासियों को इस प्रयोग की ओर आकृष्ट कर सकेगा तथा समाज की युवकशक्ति और लोकसेवकशक्ति को इस रचनात्मककार्य में प्रेरित और योजित कर सकेगा। समाज के सामने समाज[illegible] सफल चित्र प्रस्तुत कर सकेगा।

आज सारा विश्व एक नई करवट ले रहा है। [illegible]
भौतिकतावादी राष्ट्रों को आध्यात्मिकता की भूख लगी है।
बाद भारतराष्ट्र, आरबराष्ट्रों तथा अफ्रीकनराष्ट्रों का [illegible]
रहा है। ऐसे समय में सबको राष्ट्ररचना या समाजरच[illegible]
में आध्यात्मिकता की जरूरत पड़ेगी। उसके बिना [illegible]

समाजरचना चिरस्थायी और सर्वांगीण नहीं हो सकेगी। अतः यदि आध्यात्मिकता का अमरपूजारी साधुवर्ग उन सब नवोदित राष्ट्रों और विश्व के जिज्ञासु राष्ट्रों के सामने आध्यात्मिकता का सक्रिय प्रयोग करके सच्ची सक्रिय आध्यात्मिकता प्रस्तुत नहीं करेगा और केवल एकान्तवास, ध्यान, मौन, हठयोगसाधना समाज से अलगाव, राष्ट्र से उदासीनता, व्यक्तिगतसाधना, व्यक्तिगतकल्याण आदि की रट और धुन में आध्यात्मिकता को परिसमाप्त कर देगा; विश्व की समस्त आत्माओं—मनुष्यों और मनुष्येतर प्राणियों—के साथ सच्ची आत्मीयता, आत्मौपम्यता, ब्रह्माद्वैत, विश्वकुटुम्बिता, विश्ववात्सल्य प्रत्यक्षरूप से संस्थाकीय माध्यम से प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं करेगा तो उसकी आध्यात्मिकता एकांगी, संकुचित और पूंजीवादी घेरे में बन्द हो जायगी, उसकी स्वपरकल्याणसाधना चरितार्थ नहीं होगी। उसकी आत्मिकशक्तियाँ कुण्ठित और अकृतकार्य हो जायेंगी, उसके सञ्चितज्ञान और अनुभव का भण्डार अपने में ही विलीन हो जायगा। अगर साधुवर्ग समाज के करोड़ों मानवदीपों को अपने मार्गदर्शन एवं अनुभवज्ञान की लौ से प्रज्ज्वलित करे तो वे कितने ज्योतिर्मय हो उठेंगे ? उनके वैर-विरोधों, संघर्षों, समस्याओं, दुःखों के समय वात्सल्यरसामृत सिञ्चन करे तो करोड़ों व्यक्तियों का जीवनवृक्ष हराभरा और सजीवन हो उठेगा। भारतवर्ष तो हजारों वर्षों से साधुसंतों का पूजारी तथा उनके पदचिह्नों पर चलने वाला धार्मिक देश रहा है। भारतीय संस्कृति में तथा भारतीय जनजीवन में साधुसंन्यासीवर्ग तानेबाने की तरह ओतप्रोत है; क्योंकि वही संस्कृति का स्रष्टा-द्रष्टा और भारतीय समाजजीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में नीति-धर्म की प्रेरणा और मार्गदर्शन देने तथा पहरेदारी करने वाला रहा है। प्राचीनकाल से समाज से निर्लेप रह कर निःस्पृहभाव से समाज में पैदा होने वाली विकृतियों,

या थप्पड़ आदि द्वारा प्रहार कर रहा हो, उस समय यानी तामस, जड़ता या दुःख की दशा में जो हमारी शारीरिक श्रद्धा को अटल, अविचल रखती हो, हममें शारीरिक कष्ट सहने की शक्ति और स्फूर्ति देती हो वह शारीरिक श्रद्धा है। विरोधी शक्तियों के द्वारा जब हम पर आक्षेप, अपमान, निन्दा, गाली, विरोध आदि के रूप में आक्रमण हो रहे हों, हमारे मार्ग में जगह-जगह कांटे बिछाए जा रहे हों; उस समय हमें अपने सिद्धान्त पर या कर्तव्य पर अडिग रहने की प्रेरणा देती है और विरोधियों के प्रति द्वेष या वैरभाव न रखते हुए हमें अपने कार्य में डटे रहने की कर्तृत्वशक्ति जुटा देती है, वह प्राणमय श्रद्धा है। आवेशों वासनाओं, शंकाओं, रुचियों, तर्कों, परिस्थितियों, भयों, प्रलोभनों, संयोगों और युक्तियों आदि के कारण जब हमारा मानस सिद्धान्त छोड़ने को तैयार हो रहा हो या विचलित हो रहा हो, उस समय जो इन सबके खिलाफ लड़ कर उक्त आवेशादि पर विजय प्राप्त करने का बल देती हो, वह मानस श्रद्धा है। और कैसी भी परिस्थिति में अपने ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, परिग्रहत्याग, प्रतिष्ठात्याग आदि पर अटल रहने की और उस अव्यक्तशक्ति-विश्वमाता-के प्रति विश्वास, समर्पण और उसकी चेतना के साथ एकाकारता की शक्ति या श्रद्धा जिसके निमित्त से प्रगट होती हो और उस विश्वमैया के प्रति अपने हृदय को खोल देने की प्रेरणा मिलती हो, वह चैतन्य श्रद्धा है। इन चारों श्रद्धाओं से अव्यक्तशक्ति पर अपार श्रद्धा विश्ववात्सल्यसाधना को सुदृढ़ बनाती है। सभी महापुरुषों को इस अव्यक्तशक्ति पर अटल श्रद्धा के कारण अपार आत्मबल मिलता है।

(२) समष्टि (विश्व के मानवेतर–प्राणीसमूह) तक नीति और धर्म के सर्वांगों का प्रयोग करना— विश्ववत्सल बनने तक वह व्यक्ति से लेकर समाज और समाज से लेकर समष्टि

क का हितचिन्तन करने, शुद्धनीति-धर्म का प्रयोग करने का सतत यत्न करता रहेगा। वह मानवसमाज के निरर्थक मौज-शौक, विलास । व्यर्थ सुखेच्छा की पूर्ति के लिए अनेक छोटे प्राणियों के नाश का ो कदापि विचार नहीं करेगा। प्रयोगकार में क्या-क्या गुण होने ाहिये, यह 'प्रयोग का ध्येय, क्रम और प्रयोक्ता' नामक प्रकरण में हम ता ही चुके हैं।

(३) अहिंसा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार— यह क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग का तीसरा गुण है। मन-वचन-काया से हिंसा करना नहीं, कराना नहीं और हिंसा करते हुए का समर्थन भी न करना, यह अहिंसा का निषेधात्मक पहलू है; वैसे ही स्वयं मन-वचन-काया से अहिंसा का पालन करना, पालन कराना और पालन करने वाले का समर्थन करना, यह अहिंसा का विधेयात्मक पहलू है। इसमें सेवा, दया, प्रेम, करुणा, वात्सल्य, क्षमा, सहिष्णुता, सहानुभूति, सहयोग, आत्मीयता, न्याय आदि सबका समावेश हो जाता है। अहिंसा का केवल निषेधात्मक अर्थ लगाने से उसमें से एकान्त निवृत्तिवाद, दम्भ, नफरत, घृणा, ईर्ष्या, दोषदृष्टि, स्वार्थ आदि दुर्गुण पनपते हैं। विश्ववत्सल साधक विचार, वाणी और व्यवहार तीनों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म ढंग से अहिंसा का चिंतन करके सूक्ष्महिंसा का भी त्याग करने का प्रयत्न करे, वनस्पति, पानी, पृथ्वी, हवा आदि में भी संयम, मितव्ययिता आदि रखे।

(४) सम्पूर्ण आत्मीयता—सूक्ष्मअहिंसा का पालन करने वाले विश्ववात्सल्यसाधक को प्रत्येक जीव के साथ सम्पूर्ण आत्मीयता का सहज अभ्यास करना होगा। इस गुण को प्रगट करने के लिए इसके दो अंगों पर भी ध्यान देना आवश्यक है—(१) व्यापक प्रतिभा—जिसके कारण उसके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उसके चरणों

नतमस्तक हो जाय। और (२) विश्वप्रेम का चुम्बक—प्रेम भी इतना व्यापक हो कि जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति को आकर्षित कर सके। इसके कारण धर्म और संस्कृति की सुरक्षा यानी सत्य, न्याय और प्रेम (सूक्ष्म अहिंसा) का पालन व रक्षण वे आयुधरहित होकर प्राणप्रण से कर सकेंगे। साथ ही पतित से पतित, पापी से पापी, किन्तु जिज्ञासु भाई-बहनों के हृदय बदल कर उन्हें महापुण्यशाली, महाधर्मी और पवित्रमूर्ति बना सकेंगे।

पूर्वोक्त दोनों अंग तभी विकसित हो सकेंगे, जब व्यापक व सर्वांगीदृष्टि होगी; समय आने पर सिद्धान्त के लिए प्राण, प्रतिष्ठा और परिग्रह छोड़ने की तैयारी होगी; यानी सर्वस्व होमने की वृत्ति होगी, साथ ही वे बिगड़े व टूटे हुए अनुबन्धों को सुधारने और जोड़ने तथा नहीं जुड़े हुए को नये सिरे से जोड़ने के लिए सतत पुरुषार्थशील होंगे, तथा अपनी व समाज की शुद्धि के लिए भी सतत निरीक्षण-परीक्षण में प्रयत्नशील होंगे।

ऐसा क्रान्तिप्रिय उत्तमसाधक अपने मार्गदर्शन से चल रही संस्थाओं व कार्यकर्ताओं आदि के साथ खासतौर से आत्मीयता महसूस करेगा। उसके दोष या भूलें मेरे दोष या मेरी भूलें हैं, यह मानकर उस व्यक्ति की दोषशुद्धि के लिए, उसकी अन्तरात्मा को जगाने के लिए स्वयं प्रायश्चित्त करेगा। उसकी गुणवृद्धि के लिए प्रयत्न करेगा। भारत का साधुवर्ग अपार संकटों और प्रलोभनों में से शुद्धरूप से पार उतरा है। इसलिए वह अपने ऊपर आ पड़ने वाले आक्षेपों आदि को समतापूर्वक सहेगा, परन्तु संस्थागत आक्षेपों को क्षणमात्र भी नहीं सहेगा। आत्मीयता का अर्थ यह नहीं है कि वह दोषी या अपराधी व्यक्ति या संस्था को भी निभा लेगा; अपितु वह शीघ्र ही दोष शुद्धि करने-कराने का प्रयत्न करेगा।

(५) देश, वेश, भाषा और संस्कृति से पर विश्वहित—विश्ववत्सल साधु देश, वेश, भाषा और संस्कृति की रक्षा और विश्वहित की रक्षा दोनों में से विश्वहित को महत्त्व देगा, उसी की पहल करेगा। चाहे जितने कष्ट या प्रलोभन क्यों न आयें, वह विश्वहित (विश्ववात्सल्ययुक्त) से चलित नहीं होगा। विश्वहित के प्रश्न को सर्वप्रथम सोचेगा। उसमें द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से साधुता होनी आवश्यक है। तभी वह विश्वहित का काय देशवेषादि के विकारों से पर रह कर कर सकेगा।

(६) विश्वसेवा में अहर्निश तत्परता—यह छठा गुण है। इस गुण की प्राप्ति के लिए साधु केवल राहत (पुण्य) के ही कार्य नहीं करेगा, अपितु पुराने खोटे मूल्यों (जिनसे विश्व पीड़ित हो रहा हो) को उखाड़ कर नये सच्चे मूल्य स्थापित करने का धर्म (क्रान्ति) का भी काम करेगा। साथ ही वह शान्तिसेना, शान्तिसहायक एवं शान्ति-चाहक इन तीनों कोटि के लोगों का राहबर, प्रेरक तथा नेतृत्व करने वाला होगा। गाढ़ आत्मीयता होने के कारण सेवा उसके जीवन में ओतप्रोत हो जायगी। बालक को दुःखी देख कर जैसे माता स्वयं दुःख सह कर भी उसे सुख पहुँचाती है, वैसे ही विश्ववत्सल साधक विश्व के दुःखों को दूर करने के लिए स्वयं कष्ट सहेगा और उसे सुख पहुँचायेगा।

(७) सर्वधर्म-उपासना का आचरण—विश्ववत्सल साधुपुरुष जगत् के सभी धर्मों को आत्मीय मानकर उन्हें अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार रख कर, विविध धर्मों में निहित सत्यों को जागृतिपूर्वक ग्रहण करेगा और उनका यथायोग्य पारिस्थितिक तथा शाब्दिक समन्वय करेगा। जो धर्म योगविशिष्ट होंगे उन्हें उस श्रेणी में, जो

ज्ञानविशिष्ट होंगे, उन्हें उस श्रेणी में और जो नीतिविशिष्ट होंगे, उन्हें उस श्रेणी में व्यवस्थित रख कर उनका समन्वय करेगा। सर्व-धर्मउपासना का सर्वांगरूप यह होगा—(१) स्वधर्मनिष्ठा (२) अन्य धर्मों, धर्मसंस्थापकों एवं धर्मवीरों के प्रति आदर (३) सर्व-धर्म-संशोधन (४) अधर्म का विरोध (५) धर्मान्तर, सम्प्रदायान्तर, वेषान्तर या क्रियान्तर न करना, न कराना (६) सर्व-धर्म-आत्मीयता।

(८) विश्ववात्सल्य में सम्पूर्णनिष्ठा—विश्ववत्सल साधु-साध्वी में विश्ववात्सल्य की नीतिनिष्ठा, व्रतनिष्ठा, आचार-विचार-निष्ठा होनी चाहिए। विश्ववात्सल्य को समाजव्यापी बनाने के लिए वह जनता और जनसेवकों के संगठन बना कर प्रयोग के माध्यम से उनका और अपना सर्वांगीण जीवननिर्माण करेगा। तादात्म्य-ताटस्थ्य का विवेक हर प्रयोग-प्रवृत्ति में रखेगा। प्रयोगमान्य सभी संस्थाओं को मार्गदर्शन देगा। निसर्गनिर्भरता का गुण मुख्यरूप से होने के कारण पैदलविहार (पदयात्रा) और भिक्षाचरी एवं अहिंसा-सत्यादि पांच महाव्रतों का पालन वह अनिवार्यरूप से करेगा। ऐसे क्रान्तिप्रिय विश्ववत्सल साधुवर्ग के द्वारा उठाए हुए प्रयोग के सभी सत्कर्मों—रचनात्मक कार्यों—में हाथपैर के समान जनसेवक-सेविका उसके अङ्गभूत सहायक बनेंगे।

(९) पिछड़े वर्गों और नारीजाति का उद्धार—जिन्हें आज तक अधिक अन्याय हुआ है; जो दुर्बल, पीड़ित, शोषित, पददलित और पिछड़े रहे हैं, उन पिछड़े देशों, वर्गों, जातियों, ग्रामों, कुटुम्बों और महिलाओं पर अधिक ध्यान देकर विश्ववात्सल्यसाधक एक विश्व-माता की तरह उन निर्बल संतानों पर अधिक वात्सल्य और सहानुभूति बताएगा। उन्हें आगे लाने, उन्नत बनाने और प्रतिष्ठा देने का प्रयत्न

करेगा। उन्हें अहिंसक प्रयोगों के वाहक बनाएगा। संस्कृतिरक्षा के लिए उन्हें और खासकर मातृजाति को सुसंस्कृत बनाएगा।

(१०) विश्वप्रश्नों का प्रतिक्षण विचार—विश्ववत्सल साधुवर्ग कालद्रष्टा और क्रान्तद्रष्टा होगा। वह मानवजीवन के हर क्षेत्र के प्रश्नों को जांचेगा, सोचेगा, और धर्मनीति की दृष्टि से हल करने का प्रयत्न करेगा। खतरे उठाएगा और आक्षेप सहेगा। धैर्यपूर्वक अपने सिद्धान्तों पर अटल रहेगा; आलोचनाओं से डरेगा नहीं।

उपर्युक्त दस गुण विश्ववत्सल क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग में होने अनिवार्य हैं।

क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग का सक्रिय आचार

आज सभी क्षेत्रों और समस्त राष्ट्रों में यानी विश्व और मानव-समाज के सभी अंगों और क्षेत्रों में सत्य-अहिंसा-न्याय-नीतिरूप शुद्ध-धर्म का सामूहिक प्रयोग किये बिना इस धर्मक्रान्ति का सक्रिय आचार होना कठिन है। उसके लिए आज सर्वप्रथम राजनैतिक क्षेत्र की गंदगी को साफ करके उसे शुद्ध बनाना होगा। तभी दिनानुदिन बढ़ती हुई उसकी दस्तंदाजी को रोक कर उसे सत्ताधारितता से जनाधारितता में परिणत किया जा सकेगा। उसके लिए सर्वांगीदृष्टियुक्त साधुवर्ग को नीति और धर्म का प्रयोग शुरू करके विश्व में मानवजीवन के हर क्षेत्र में नीति-धर्म का प्रवेश कराना पड़ेगा। इसके लिए विश्व की संयुक्तराष्ट्रसंस्था और देश की कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय महासंस्था को जिलानी, सुधारनी व सुदृढ़ बनानी होगी। साथ ही उसे ग्राम भिमुख तथा लोकलक्षी बनाने के लिए 'ग्रामकांग्रेस' रूपी राजकीय सहायकबल तैयार करना पड़ेगा। तभी कांग्रेस सुदृढ़ बन कर शुद्ध होकर जी सकेगी; जब ग्राम और नगर की जनता के नीति-मूलक व धर्मदृष्टि से

[illegible] संगठन [illegible] का
[illegible] काम करने वाले [illegible] इन दोनों
को कांग्रेस जैसा [illegible] शुद्धि [illegible] के लिए [illegible]
प्रेरक और [illegible] के रूप में काम करने में जुटा दिया जायगा।
साथ ही इन सब संगठनों को क्रान्तिप्रिय [illegible] और
[illegible] अनुप्राणित करेगा, ताकि उनसे मार्गदर्शन लेकर देश और
विश्व के प्रत्येक भूभाग में लोकतंत्र को सुरक्षित रखते हुए प्रत्येक क्षेत्र
के अनिष्टों के खिलाफ सामूहिक सत्याग्रह—शुद्धि-प्रयोग—के द्वारा
उन्हें शुद्ध कर सकें। तभी समाज में आध्यात्मिकशक्ति, नैतिकशक्ति,
जनशक्ति और संगठनकी दण्डशक्ति का क्रमपूर्वक प्रयोग होने से
समग्रसमाज की सुव्यवस्था और विश्व का संचालन धर्मदृष्टि से हो
सकेगा। यही विश्ववत्सल क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग का सक्रिय आचार है,
जो प्रयोग के माध्यम से करने में पूर्वोक्त चारों संगठनों की अनिवार्य
अपेक्षा रखता है। साधुवर्ग उसका अग्रदूत बनेगा।

७

अनुबन्ध

प्रयोग के अंगों में संगठन के बाद 'अनुबन्ध' का क्रम आता है। इसका कारण भी सुनिश्चित है। मनुष्यों को केवल विविध संगठनों में बांध देने से ही उनका निर्माण नहीं हो जाता। सूत कात कर उनके अलग-अलग ढेर कर देने से ही वस्त्र का निर्माण नहीं हो जाता। उस सूत को तानेबाने में तरतीब से जमाना होगा, बुनना होगा, सूत में कहीं खराबी होगी तो निकालनी होगी। तब जाकर कपड़ा तैयार होगा। इसी प्रकार विविध स्तर के संगठनों का टोला इकट्ठा कर देने मात्र से समाज बनता नहीं, और न ही समाज का निर्माण होता है। एक और एक के पास-पास रख देने से ही वे ११ (ग्यारह) नहीं बन जाते। यदि वे दोनों झगड़ें तो (१—१=०) शून्य हो सकते हैं। दोनों प्रतिस्पर्धी बनें तो (१×१=१) एक ही बचेगा। अगर वे दोनों जुड़ें तो (१+१=२) दो हो जायेंगे। मगर ग्यारह तो तभी बन सकेंगे, जब दोनों में परस्पर सहयोगी मेल होगा। इसी प्रकार प्रयोगमान्य चारों संगठन वात्सल्यसम्बन्ध से सम्बद्ध और सहयोगी बन कर मिलें तो चारों संगठनरूपी एक की शक्ति ११११ गुनी हो सकती है। इसीलिए प्रयोगमान्य सुसंगठनों को वात्सल्य के तानेबाने में गूंथ कर यथायोग्य क्रम से रखना, जहां जिसका स्थान है, वहाँ उसे स्थान देना, समग्रसमाज की नैतिकशक्ति को प्रचुर बनाने और उसके सर्वांगीण निर्माण की दृष्टि से बहुत जरूरी है।

एक कारखाने में [illegible] व्यवस्थित और यथाक्रम से एक दूसरे के साथ [illegible] जायगा। कभी नहीं चल सकता। इसी प्रकार महल बनाने का सभी सामान—ईंट, चूना, सिमेंट, लोहे के गर्डर, लकड़ी की खिड़कियाँ आदि—मौजूद हों; लेकिन उन्हें व्यवस्थितरूप से यथायोग्य स्थान पर जमाया और जोड़ा नहीं जायगा तो महल कभी तैयार नहीं हो सकेगा। यह बात विश्वरूपी कारखाने या समाजरूपी महल के बारे में समझनी चाहिये। यदि विविध संगठनों को अपने-अपने स्थान पर वात्सल्य-सम्बन्ध से यथाक्रम से जमाया और जोड़ा नहीं जायगा तो यह विश्वरूपी कारखाना ठीक ढंग से एक दिन भी नहीं चल सकेगा या समाजरूपी महल का निर्माण यथावत् नहीं हो सकेगा। यही कारण है कि आज विश्व के विविध राष्ट्रों को विधिवत् वात्सल्य-सम्बन्ध से जोड़े न जाने और यथाक्रम से रखे न जाने के कारण गड़बड़ मच रही है; अशान्ति, परस्पर भीति, आशंका, एवं बेचैनी छाई हुई है। शान्तिवादियों द्वारा प्रयत्न किये जाने पर भी नतीजा आशानुरूप नहीं दिख रहा है।

दूसरी बात यह है आज सारे समाज में मुख्यतया चार बल हैं—(१) लोकतंत्रीय सत्ताबल, (२) बहुसंख्यावाला जनबल, (३) व्रतबद्ध जनसेवकों का नैतिकबल और (४) सक्रिय अध्यात्मनिष्ठ साधुवर्ग का अध्यात्मबल। इन चारों बलों को क्रमशः कांग्रेस, जनसंगठन, जनसेवकसंगठन और क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग के नाम से प्रस्तुत प्रयोग में धर्मदृष्टि से समाजनिर्माण के हेतु मान्य किया गया है। साथ ही प्रस्तुत प्रयोग में समग्रसमाज को सुव्यवस्थित और संकलित रखने के लिए प्रयोगमान्य चारों मुख्य संगठनों का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया गया है—(१) बुनियाद में अध्यात्मबल, (२) नीति-धर्म द्वारा घड़ने में नैतिकबल, (३) व्यवहार में बहुसंख्यावाला जनबल, और (४) न्याय की मुहरछाप लगाने के लिए लोकतंत्रीय सत्ताबल।

प्रयोगमान्य विभिन्न संगठन समग्रसमाज के विविध स्तर के अवयव हैं। अर्थात् प्रयोग की दृष्टि से समग्र समाज संगठन-संस्था-रूपी अवयवों से मिल कर पूर्ण होता है। जो सम्बन्ध हमारे शरीर और उसके विभिन्न अवयवों में होता है, वही सम्बन्ध समग्रसमाज और उसके अवयवों में है और रहना चाहिए। किन्तु पूर्वोक्त चारों बलों–अवयवों–को शरीर अवयवों की तरह वात्सल्यसम्बन्ध से परस्पर व साथ-साथ जोड़ा या सुधारा नहीं जायगा तो दशा यह होगी कि जिसके पास सत्ता ज्यादा होगी वह बल अथवा जिसके पास चीन या रूस की तरह जनसंख्या ज्यादा होगी, वह बल सारे समाज पर कब्जा कर लेगा। फलस्वरूप समाज के उस उपेक्षित, निरनुबद्ध या निर्बल अंग पर सबल अंग के हावी हो जाने, उसे दबा देने और अपने अहं के परितोष के लिए उसे अपने कब्जे में कर लेने की पूरी सम्भावना है। ऐसा होने पर समाज में अव्यवस्था पैदा होगी, हिंसाबल बढ़ेगा। भारत में ही हम देख रहे हैं कि एक ओर कॉंग्रेस (सत्ताबल) को घड़ने या सुधारने या उससे वात्सल्यसम्बन्ध जोड़ कर उस पर जनता-जनसेवकों द्वारा नैतिक अंकुश लगाने की उपेक्षा की जा रही है। दूसरी ओर ग्राम-नगर की जनता के नीतिमय संगठनों को घड़ने और नैतिक-आध्यात्मिक-बल द्वारा नीतिसबल बनाने पर प्रायः कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। तीसरी ओर साधुसंस्थारूपी अध्यात्म-बल अपने-अपने दायरों में विभक्त है, उनका अध्यात्मबल भी कुण्ठित और निष्क्रिय हो रहा है। चौथी ओर जनसेवकसंगठनरूपी नैतिक बल के पास नीति-धर्म का बल होते हुए भी उसका जीवन प्रायः राहत-कार्य में लग कर जनबल और सत्ताबल को समतुला पर रखने और उनको अपनी-अपनी नीतिधर्म की सीमारेखा में चलाने और इस प्रकार उनका निर्माण करने से प्रायः विमुख है। फलस्वरूप इस आपाधापी में सत्ताबल लगभग सब पर हावी हो गया है। इसका

इनको एक-कौटुम्बिकता में नहीं बांधने से और अलग-अलग वर्ग में रहने देने से वर्गीयअहंत्व, शोषण और अन्याय अधिक पनपेगा, परस्पर किसी का किसी वर्ग पर नैतिकअंकुश भी नहीं रहेगा। घर में जिस प्रकार माता-पिता, बड़े भाई-बहन और छोटे भाई-बहन आदि में परस्पर वात्सल्यसम्बन्ध होते हुए भी पूज्यपूजक व भ्रातृत्व-सम्बन्ध स्वेच्छा से स्वीकृत होता है। इसी प्रकार समग्रसमाजरूपी कुटुम्ब में भी अध्यात्मबल, नैतिकबल, जनबल और सत्ताबल में भी प्रेय-प्रेरक व पूरक सम्बन्ध स्वेच्छा से स्वीकृत हो जाय तो कहीं भी ऐसी गड़बड़ नहीं हो सकती।

हमें सारे विश्व को एक कुटुम्ब बनाना है, किन्तु इस विश्व-कुटुम्बिता के सिद्धान्त को अमलीरूप देने के लिए केवल वैज्ञानिक साधनों से विश्व की बाह्य निकटता लाने से यह काम नहीं होगा। विश्व के दिलों को व्यापक बनाना होगा। गाँव में दो पड़ौसियों के मकान पास-पास हैं, या दो आदमी एक दूसरे से सट कर चल रहे हैं, इतने से वे संघर्ष करना, झगड़ा करना, एक दूसरे के प्रति अन्याय या शोषण करना छोड़ देंगे, यह समझना यथार्थ नहीं है। जब तक दोनों पड़ौसियों के दिल न मिले हों, दोनों राहगीरों के दिल न सटे हों तब तक दोनों में कौटुम्बिकता आनी कठिन है। महात्मा गाँधीजी के शरीर का आकार तो छोटा-सा था, लेकिन उनका व्यक्तित्व व्यापक था; सारे विश्व के दिलों में व्याप्त था। शरीर की मर्यादाओं से मनुष्य की भावना और संस्कृति मर्यादित नहीं होती। व्यापकता के लिए शरीरमर्यादा प्रतिकूल नहीं होती। अतः इन संगठनों के शरीर छोटे हुए भी उनके दिलों में कौटुम्बिकता का कर्तव्यभाव भरा जाय तो वे सारे विश्व को छू सकते हैं, समग्रसमाज के दिलों में व्याप्त हो सकते हैं। और इस प्रकार समग्रसमाज के द्वारा समष्टि तक विश्व-कुटुम्बिता व्याप्त हो सकेगी।

दूसरे पर अवलम्बित थे। इतना ही नहीं, इन तीनों में से एक की भी अवगणना होती तो मानवसमाज में त्राहि-त्राहि मच जाती और सारी व्यवस्था गड़बड़ हो जाती। क्योंकि राज्य, प्रजा और गृहस्थ-श्रावक-साधुवर्ग ये तीनों एक दूसरे से संकलित हैं। राज्य-शासन के प्रति वफादार नहीं रहा जाय तो लोकशासन ठीक ढंग से नहीं चल सकेगा, और लोकशासन बराबर न चले तो साधक ठीक नहीं रहेगा, और साधक-शासन में गड़बड़ी होगी तोसाधुशासन पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। अतः इन सबकी ध्येयानुकूल शृंखला जुड़ी हुई होनी चाहिए। भ० महावीर ने मार्गानुसारीगुणसम्पन्न लोकसंगठन को नया मोड़ देने के लिए 'ग्रामधर्म' और 'नगरधम' बताए, साथ ही राज्यसंगठन को नीतिन्याय पर सुदृढ़ करने के हेतु 'राष्ट्रधर्म' बताया और धर्म-साधक (वीतरागता की साधना क्रमशः करने वाले) संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए 'संघधर्म' बताया। इस प्रकार लोकसंगठन के चारों वर्णों में आई हुई विकृति को वे ठीक करते रहे। इसी अनुबन्धसाधना को व्यवस्थितरूप देने के लिए उन्होंने पूरा पुरुषार्थ किया। और समय-समय पर तीनों संगठनों में आई हुई विकृतियों और गड़बड़ियों को मिटाने के लिए सतत नैतिक पहरे-दारी और प्रेरणा का कार्य किया। महावीरजीवन में इसके कई उदाहरण मिलते हैं।

वैदिकधर्म की धारा में तो चार वर्ण और चार आश्रम को धर्मरूप मानकर चलने की मान्यता प्राचीनकाल से चली आ रही है। चारों वर्णों में से लोकसंगठन में वैश्य और शूद्र (महाजन) दोनों एक दूसरे से अनुबन्धित रहा करते थे। लोकसंगठन से अनुबन्धित (क्षत्रिय) राज्यसंगठन रहता था। और इन दोनों संगठनों का अनुबन्ध तीनों वर्णों के नैतिक प्रेरक और प्रत्यक्ष संस्कर्ता ब्राह्मणवर्ण (प्रेरकसंगठन) से रहता था और इन तीनों संगठनों का मुख्य अनुबन्ध ऋषि-मुनि-

संन्यासी-वर्ग (मार्गदर्शक) से बनता था। अर्थात् राज्यसत्ता सत्ता और लोकसत्ता पर ब्राह्मण (लोकसेवक) सत्ता एवं लोकसे[illegible] पर नैतिकता का अंकुश था। [illegible] चारों वर्णों को शरीर के [illegible] अंग—ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को भुजा, वैश्य को पेट और शू[illegible] पैर की उपमा धर्मशास्त्रों और वेदों में दी गई है। जिस प्रकार [illegible] के अवयवों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध और सहकार है, [illegible] प्रकार चातुर्वर्ण्य समाज का भी एक दूसरे के साथ घनिष्ठ अनु[illegible] होता था। यदि कहीं कोई गड़बड़ होती, अनुबन्ध बिगड़ता या [illegible] जाता तो ब्राह्मणवर्ग उसे ठीक करने का कार्य करता था। यदि ब्राह्म[illegible] वर्ग भी कदाचित् लापरवाही, पक्षपात या स्वार्थवश उपेक्षा करता [illegible] साधुसंन्यासी या ऋषिमुनि तुरंत ही उसे सावधान करने और बिगड़े हुए अनुबन्ध को ठीक करते। समाज-निर्माण के कार्य में वे प्रेरणादाता के रूप में अपनी मर्यादा में रह कर भाग लेते थे; समाजरचना के इस महत्त्वपूर्ण कार्य से वे उदासीनता या उपेक्षा धारण करके नहीं बैठे रहते थे। इसीलिए भारतीय समाज की सुव्यवस्था हजारों वर्षों तक चलती रही।

रामयुग में वशिष्ठ प्रेरक थे और विश्वामित्र या वाल्मीकि जैसे ऋषि मार्गदर्शक थे। राज्यसंस्था के साथ इनका लगातार अनुबन्ध रहा। साथ ही वे राज्यसंस्था पर लोकसंस्था (महाजन या पंच) का अनुबन्धात्मक अंकुश रखाते थे। यही कारण है कि दशरथ राजा ने जब श्रीरामचन्द्रजी को अपने जीते जी राजगद्दी पर बिठाने की बात वशिष्ठ मुनि के सामने रखी तो उन्होंने कहा—

'जो पांचहिं मत लागे नीका, तो रघुवरसन कर देहु टीका।'

यदि पंचों (महाजनों) को यह बात ठीक लगे तो रामचन्द्रजी को राजतिलक अवश्य दीजिये।

ायुग में भी श्रीकृष्ण ने स्वयं गुण (स्वभाव) और कर्म-(धंधों)
प विभाग करके चार वर्णों (संगठनों) की रचना की। और
र्ये, कृपाचार्य जैसे ब्राह्मणों और अरिष्टनेमि तीर्थंकर तथा
स्वियों ने चारों वर्णों के साथ क्रमशः नैतिक अंकुशमय अनु-
ाया। यानी मूल (वृक्ष का मूल नीचे से शुरू होता है, इस
ज्यसंस्था, पूरक जनसंस्था (गोपालक तथा आभीर, यादवादि
रक ब्राह्मणसंस्था और मार्गदर्शक ऋषि-मुनि-श्रमण बने।

धर्म की धारा में बुद्ध, धर्म और संघ तीन का शरण लेकर
अन्तर्गत समाजसंगठन, राज्यसंगठन और धर्मसंगठन को माना
इन तीनों का परस्पर अनुबन्ध भ० बुद्ध और उनके श्रमणों ने
ाध्यम से रखा है। यद्यपि बौद्धधर्म वर्णव्यवस्था को जन्मना नहीं
फिर भी उसमें गुण-कर्म से वर्णव्यवस्था का व्यवस्थित विचार
या है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि राज्यसंगठन और
ाजसंगठन को बौद्ध-श्रमण-संघ से सदा प्रेरणा मिलती रही
देशों में भी जहाँ-जहाँ बौद्धधर्म गया, वहाँ-वहाँ राज्य-पर
तुओं का लगातार प्रभाव रहा है। उपगुप्तभिक्षु ने अशोक
ो नैतिक प्रेरणा दी, जिससे वह सदा के लिए युद्ध से विरक्त
था। बौद्धधर्म के तीन शरणों में बुद्ध समस्त साधुसंस्था के
, संघ राज्यसहित समग्र (चातुर्वर्ण्य) समाज का प्रतीक है
इन सब का प्रेरकबल है। सभी का धर्म के साथ अनुबन्ध

अनुबन्ध कैसे और कब बिगड़ा ?

युग में लोकसंगठन के एक अंग शूद्रवर्ग के साथ सम्पर्क, नैतिक
। प्रेरणा बहुत ही कम रही। इसी कारण अयोध्या में धोबी
कसंगठन-प्रतीक व्यक्ति सीता जैसी पवित्र सती के लिए

कृष्णयुग में भी श्रीकृष्ण ने स्वयं गुण (स्वभाव) और कर्म (धंधों) के अनुरूप विभाग करके चार वर्णों (संगठनों) की रचना की। और द्रोणाचार्य, कृपाचार्य जैसे ब्राह्मणों और अरिष्टनेमि तीर्थंकर तथा ऋषितपस्वियों ने चारों वर्णों के साथ क्रमशः नैतिक आध्यात्मिक अनुबन्ध रखाया। यानी मूल (वृक्ष का मूल सींचने से शुरू होता है, इसलिए) राज्यसंस्था, पूरक जनसंस्था (गोपालक तथा आभीर, यादवादि जाति), प्रेरक ब्राह्मणसंस्था और मार्गदर्शक ऋषि-मुनि-श्रमण गण।

बौद्धधर्म की धारा में बुद्ध, धर्म और संघ तीन का शरण लेकर संघ के अन्तर्गत समाजसंगठन, राज्यसंगठन और धर्मसंगठन को माना है और इन तीनों का परस्पर अनुबन्ध भ० बुद्ध और उनके श्रमणों ने धर्म के माध्यम से रखा है। यद्यपि बौद्धधर्म वर्णव्यवस्था को जन्मना नहीं मानता, फिर भी उसमें गुण-कर्म से वर्णव्यवस्था [illegible] स्वीकार

[illegible] (अहिंसा) [illegible] ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, [illegible] सुसंस्था और राष्ट्र इन सबका निर्माण करती है। किसी संस्था में एक या अधिक व्यक्ति चाहे कितने ही [illegible] उन व्यक्तियों का संगठन (व्यवस्थित) नहीं हो जाता। सारे समाज का या व्यक्तियों का संगठन सुसंस्थाओं के द्वारा ही हो सकता है। अकेले व्यक्ति के संगठन से भी समाज में पूर्णता नहीं आती; क्योंकि व्यक्ति समाज के साथ संकलित है। इसलिए सुसंस्थाओं द्वारा ही व्यक्तियों एवं समाज का संगठन आवश्यक है। व्यक्ति चाहे जितना महान हो, किन्तु संस्था से अनुबद्ध हुए बिना जनता उसका अनुसरण करने को तैयार नहीं होती। भ० महावीर, भ० राम और महात्मा गांधीजी चले गये, किन्तु उनकी संस्थाएँ चल रही हैं।

(३) व्यक्तिविशेष के साथ अनुबन्ध—(१) सामान्य जनता की अपेक्षा कई व्यक्ति उच्चभूमिका व विशिष्ट कोटि के होते हैं, वे स्वेच्छा से सभी नीति-नियम, व्रत आदि का पालन करते हैं। ऐसी विभूतियाँ संस्था के दायरे में नहीं रह सकती। अतः उनके साथ अनुबन्ध रखना चाहिये, जिससे उनका लाभ संस्था को और परम्परा से समाज को मिलता रहे। (२) जो व्यक्ति केवल विचारभेद को लेकर किसी संस्था से अलग हों तो जहां तक वे संस्था या समाज के लिए बाधक न हों, वहां तक नाहक उनका विरोध करने से वे पहले से अधिक दूर जा पड़ते हैं।

(४) सच्चे (इच्छनीय) मूल्यों या तत्त्वों की प्रतिष्ठा और खोटे मूल्यों की अप्रतिष्ठा करना—(योग्य की प्रतिष्ठा, अयोग्य की अप्रतिष्ठा—सच्चा मूल्यांकन)—इनका एक अर्थ यह है कि सच्चे और अच्छे संगठनों या सुव्यक्तियों का समर्थन करना और

खराब संगठनों या व्यक्तियों का समर्थन न करना, बल्कि कई दफा विरोध करना पड़े तो योग्य नम्रभाषा में विरोध भी करना। विरोध की मर्यादा यह है कि जहां सामान्य स्पष्टीकरण से विरोध टलता हो तो वैसा करना; किन्तु समाज और संस्था के निर्माण में विरोधी रोड़े अटकाता हो तो दृढ़ता से सामना करना जरूरी है। क्योंकि अनुबन्धकार को सुसंस्था या सुव्यक्ति को सच्चे रूप में टिकाने के लिए कभी-कभी विरोध भी करना पड़ता है। अन्त में तो सत्य की जीत होती है। कई व्यक्ति अपनी प्रकृति के कारण, या अहंता या स्वच्छन्दता के पोषण के लिए संस्था में जुड़ते या फिट नहीं होते। कई बार एक सुसंस्था से जुड़े हुए सदस्य उसी संस्था के दूसरे सदस्य के साथ द्वेष, ईर्ष्या या झगड़े के कारण संस्था से अलग हो जाते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति अगर संस्था के विकास में रोड़ा अटकाते हों, झूठमूठ विरोध करते हों तो उसका समाधान समाज के सामने करना जरूरी है। दूसरा अर्थ है—समाज में अयोग्य या अनिच्छनीय व्यक्तियों या संस्थाओं की प्रतिष्ठा तोड़ना, या उन्हें प्रतिष्ठा न देना और इच्छनीय व्यक्तियों और संस्थाओं को प्रतिष्ठा देना। अनिष्ट-इष्ट की कसौटी प्रयोगमान्य संस्थाओं की कसौटी पर से कर लेना चाहिए। अच्छे-बुरे सभी को एक तराजू पर तौलने का परिणाम बहुत बुरा आता है।

(५) योग्य के स्थान पर योग्य को स्थापित करना—इसका अर्थ स्पष्ट है। परन्तु इसके सक्रिय आचरण करते समय आज जिन सुसंस्थाओं का स्थान आगे होना चाहिए उनका पीछे हो गया हो तो वापिस उन्हें वही स्थान दिलाना चाहिये। इसके लिए कभी-कभी उन अयोग्य व्यक्तियों या संस्थाओं की शुद्धि, शस्त्रक्रिया करना, रूपान्तर करना या हटाना पड़े तो वैसा भी करने के लिए (अहिंसक ढंग से या लोकमत के दबाव द्वारा) तैयार रहना चाहिए।

बढ़ ही नहीं सकता। यद्यपि अकेले शरीर की मर्यादा होने से विश्वानुबन्ध अशक्य है, किन्तु प्रयोगमान्य ४ संगठनों से सारे समाज तक, समाज और व्यक्तिगत माध्यम से सारी समष्टि तक वह अनुबन्ध सुधार या जोड़ ही सकेगा। अतः उसके सामने चित्र स्पष्ट होना चाहिए कि मेरे पैर प्रयोगभूमि में रहेंगे, हृदय भारत में और दृष्टि सारे विश्व में रहेगी। इसी दृष्टि से वह ग्राम से लेकर सारे विश्व तक का अनुबन्ध जोड़ेगा और सुधारेगा।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि अनुबन्धकार कौन हो सकता है? उसकी योग्यता क्या होगी? इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि पूर्व-प्रकरणों में विश्ववत्सल, प्रयोगकार और क्रान्तिप्रिय साधु के जो लक्षण बताये गये हैं, उन्हीं लक्षणों वाले व्यक्ति अनुबन्धकार हो सकेंगे। यानी पूर्वोक्त लक्षण तो अनुबन्धकार में होंगे ही, कुछ खास विशेषताएँ, कार्यक्षमताएँ, योग्यताएँ व गुण भी उसमें होने आवश्यक हैं, जिनका निर्देश नीचे किया जाता है—

(१) वह दुनिया के सभी प्रवाहों को संकलित और अनुबद्ध करने की योग्यता रखता हो। यानी उसकी दृष्टि इतनी व्यापक, स्पष्ट, सर्वांगी, सर्वक्षेत्रस्पर्शी और पैनी होनी चाहिये कि वह जगत् के विभिन्न प्रवाहों का अवलोकन या अनुप्रेक्षण कर सके और उन्हें अनुबन्धित कर सके। देश और दुनिया की क्या परिस्थिति है? कहां किसका प्रभाव है? कौन व्यक्ति, संस्था, राष्ट्र या समाज किस भूमिका पर है? या किस परिस्थिति में है? कहाँ किस शुभबल या तत्त्व की कमी है? कहां कौन-सा अनिष्ट-तत्त्व घुस रहा है? कहां कौन-सी कड़ी टूट रही है? सामने वाला किस विचारधारा या वाद को मानता है? वह भारतीय संस्कृति के कहां तक अनुकूल है? [illegible] इन सबका पर्यवेक्षण करने की शक्ति अनुबन्धकार में

होनी चाहिए। महात्मा गांधीजी और स्व० पं० नेहरूजी पक्के अनुबन्धकार थे। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। वे यह रास्ता साफ कर गये हैं। इसलिए आज तो उनके रास्ते से विश्व के सभी प्रवाहों को नया मोड़ देने और प्रयोगमान्य संगठनों के माध्यम से ऐसी भूमिका तैयार करने का कार्य सुगम हो गया है। अतः वह निरन्तर जारी रहना चाहिए।

(२) वह सिद्धान्त के लिए सर्वस्वत्याग करने की वृत्ति वाला हो। अनुबन्ध जोड़ते और सुधारते समय आने वाली आफतों, विपदाओं को शान्ति, धैर्य और निर्भयतापूर्वक सहन करने का गुण उसमें होना चाहिए। कायोत्सर्ग, बलिदान या कुर्बानी का रहस्य भी यही है।

(३) उसमें मानवजीवन के सभी क्षेत्रों के प्रश्नों को धर्मदृष्टि से हल करने, व सारे समाज का परस्पर अनुबन्ध जोड़ने की योग्यता होनी चाहिये। मतलब यह कि उसमें इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह सर्वधर्मसमन्वय की दृष्टि लेकर सारे समाज को उस-उस धर्म के शास्त्रों, ग्रन्थों या इतिहासों के हवाले देकर सारे समाज को शुद्ध धर्म-नीति में केन्द्रित कर सके, उसके प्रश्न भी नीति-धर्मदृष्टि से हल कर या करा सके। इसी से सारे समाज का अनुबन्ध जुड़ा रह सकेगा।

(३) अनुबन्धकार में अनुबन्ध सुधारने के लिए कई दफा समाज को एक विशेष झटका देने की योग्यता होनी चाहिए। विशेष झटका देने के मुख्यतया दो कारण हो सकते हैं—(१) नैतिक लोकसंगठनों या लोकसेवकसंगठनों को जब राज्यसंस्था या उसके कोई व्यक्ति या अस्पष्टदृष्टि वाले लोकसेवक उखाड़ना चाहते हों, हानि पहुँचाना चाहते हों या ठुकराना चाहते हों तब। (२) या पूर्वोक्त तीनों बलों में से कोई बल एक दूसरे पर अन्याय करे, या इसमें की कोई संस्था या

या उलझनें आ घेरती हैं और व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। इसलिए यहां हमें उस पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है।

आज अनुबन्धकार के सबसे पहला प्रश्न यह आता है कि 'प्रयोग-मान्य चार संस्थाओं में से राज्यसंस्था (कांग्रेस) या राजनैतिक क्षेत्र के साथ क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग और लोकसेवकों का अनुबन्ध क्यों जोड़ना चाहिये? एक राजनीतिक पक्ष और उसमें भी बात-बात में सिद्धान्त से पीछे हटने वाली और दुर्बल बनी हुई कांग्रेस के अनुबन्ध जोड़ने से क्या पक्षातीतता में दोष नहीं आएगा? साधु और लोकसेवक को तो सत्यनिष्ठ बना चाहिए, पक्षनिष्ठ नहीं। अगर वह भी पक्षनिष्ठ बन जाय तो फिर आध्यात्मिक कैसे रह सकेगा?

यह सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण है और उथली दृष्टि से देखने वाले कई अच्छे-अच्छे साधकों को भी यह बात बड़ी अटपटी और विचित्र लगती है। यद्यपि इसका उत्तर पिछले पृष्ठों में कुछ अंश में तो आ ही चुका है। सवाल सिर्फ यह है कि बापूजी सरीखे सर्वांगीदृष्टि वाले आध्यात्मिक पुरुष कई लोगों के रोकटोक करने पर भी; "राजनीति जब अधर्म और गंदगी का अड्डा बन जाय तो एक आध्यात्मिक व्यक्ति का माता की तरह सर्वप्रथम कर्तव्य और दायित्त्व उस गंदगी को साफ करना है," इस नाते राजनीति में पड़े और राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के माध्यम से उसकी गंदगी को साफ करके राजनैतिक क्षेत्र में भी शुद्ध धर्म और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे धर्मसूत्र को क्रियान्वित कर चुके थे। तब क्या उनसे भी बढ़कर अपने को आध्यात्मिक पुरुष मानने और कहलाने वाले साधुसंत या लोकसेवक मानवजीवन के सभी क्षेत्रों, खासकर राजनीति-क्षेत्र में प्रविष्ट गंदगी को साफ न करके व सत्य-अहिंसारूप धर्म को प्रविष्ट न करा कर केवल एक सम्प्रदायरूपी तलैया या अपनी एकाकी संस्था या सीमित प्रयोगक्षेत्र तक में ही स्वयं

पक्ष गलत काम कर रहा हो, वहां भी चुप रहना, गलती करने से न रोकना और पक्ष के किसी पद या सत्ता की लालसा रखना। वैसे भी हर सत्यार्थी साधु या लोकसेवक किसी न किसी सच्चे या अच्छे व्यक्ति या संगठन (संस्था) का पक्ष लेता ही है। सज्जन लोग भव्य-अच्छे और गुणी व्यक्ति या संस्था का पक्ष लेते ही हैं, समर्थन भी करते हैं, उसे प्रतिष्ठा भी देते हैं, यह कोई नई बात नहीं है। क्या इन सबको पक्षनिष्ठ कहा जा सकता है? कदापि नहीं। खराबी तो साधुसंस्था जैसी उच्चसंस्था में क्या नहीं है? खराबी के डर से भाग जाना कायरता होगी। एक सच्चा डॉक्टर रोगी के पेट में सड़ान देख कर उससे दूर भागता नहीं, अपितु हमदर्दी के साथ उसका ऑपरेशन करता है। रोगी के स्पर्श से रोग के चेप का भी डर उसे नहीं होता; उसी प्रकार आध्यात्मिक या सामाजिक चिकित्सक कांग्रेस जैसी सिद्धान्तलक्षी संस्था में कारणवश आई हुई त्रुटियों या शिथिलताओं को दूर न करके क्या स्वयं उससे दूर भागेगा या समग्ररूप से उसे दूर फेंक देगा? और खड़ा-खड़ा आध्यात्मिकता या समाजसेवा का मंत्र बोलता रहेगा? क्या उससे उस संस्थागत आत्माओं के साथ आत्मीयता या उनकी सेवा सिद्ध हो जायगी? कदापि नहीं। अतः क्रान्तिप्रिय साधुओं और सर्वांगी सर्वक्षेत्रस्पर्शीदृष्टिसम्पन्न लोकसेवकों को विश्ववात्सल्य या सर्वात्मोदय की दृष्टि से कर्तव्य और दायित्व के नाते सर्वप्रथम तादात्म्य-ताटस्थ्य-विवेक (यतना) पूर्वक कांग्रेस के साथ अनुबन्ध जोड़ना और उसकी शिथिलताएँ, त्रुटियाँ और अशुद्धियां दूर हों तथा वह अधिकाधिक शुद्ध, संगीन और न्यायनिष्ठ होकर अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र में अहिंसा, सत्य, न्याय और शान्ति का कार्य कर सके, इसके लिए उसके साथ पूरक (जनसंगठन) और प्रेरक (जनसेवकसंगठन) बल को अनुबन्धित करना चाहिये।

राजनैतिक क्षेत्र में भाग लेने से तो आज कोई भी साधु शायद ही

बचा हो। क्योंकि सत्ताधीन सरकार जब भी हिंसा, शराब, मांसाहार, मत्स्योद्योग, कत्लखाने आदि को प्रोत्साहन देती है तो तुरन्त वे राजनैतिक क्षेत्र में कूद पड़ते हैं; असफल विरोध करने या खरीखोटी आलोचना करने को उतारू हो जाते हैं। लोकसेवकों का भी यही हाल है। वे पहले तो अपने उत्तरदायित्व के नाते राज्यसंस्था पर अंकुश रखने का विधिवत् प्रयत्न करते नहीं और जब सरकार कोई गलत या अपनी मर्यादा में उचित कदम उठाती है तो वे भी उस पर टीका-टिप्पणी करने को कटिबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार द्राविड़ प्राणायाम करके राजनीति में पड़ने की अपेक्षा तो सीधे ही राजनैतिक क्षेत्र की हलचलों की जानकारी रख कर राज्यक्षेत्र या राज्यसंस्था के साथ अनुबन्ध जोड़ कर, उस पर जनता और जनसेवकों का नैतिक-अंकुश व दबाव लगा कर और उसकी शुद्धि का प्रयत्न करते हुए „उसमें धर्म-नीति का प्रवेश करा कर सफलतापूर्वक उक्त हिंसादिकृत्य बन्द करवाने का उत्तरदायित्व पूरा करना क्या बुरा है ?

कांग्रेस के साथ उक्त दोनों पूरक-प्रेरकबल अनुबन्धित नहीं किये जायेंगे तो वह (कांग्रेस) अकेली अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजनीतिक-मंच से अहिंसा, सत्य, न्याय, संयम, शान्ति आदि के प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकेगी। यदि आग्रहवश करने जायगी तो वह अहिंसादि-तत्त्वों और भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्वों को खतरे में डालेगी। महात्मा गाँधीजी ने भारतीय जनता तथा मजूर-महाजन आदि जन-संगठनों को कांग्रेस के पूरकबल बनाये थे, उनके साथीजन (रचनात्मक कार्यकर्त्तागण) कांग्रेस के प्रेरक बन गये थे और वे स्वयं उसके मार्गदर्शक थे ही। गांधीजी के अवसान के बाद कॉंग्रेस में पूरकबल की क्षति पड़ी ही थी;. प्रेरकबल की भी बड़ी कमी पड़ गई। क्योंकि प्रेरकबल का काम कर सकने योग्य संगठित नैतिक-संस्था (सर्वसेवा-संघ) पूरकबल (जनता) को भी कांग्रेस से पृथक् करने और पक्ष-

हिंसा की धुन में जाने-अनजाने मूलपक्ष (राष्ट्रीय महासभा) की शक्ति को तोड़ने वाले विघातक पक्षों को महत्त्व देने लगी। यद्यपि भालनल-कांठा प्रयोग के प्रेरकबल (प्रायोगिक संघ) ने ऐसा कतई न किया; बल्कि ग्राम (जन) संगठनों को इसके पूरक बनाये, स्वयं प्रेरक बने और क्रान्तिप्रियसाधु मार्गदर्शक बने। किन्तु यह प्रयोग एक प्रदेश तक के क्षेत्र में सीमित होने के कारण देशव्यापी कांग्रेस पर यथेष्ट प्रभाव न डाल सका।

एक दूसरा सवाल भी कानों में टकराता है कि यदि कांग्रेस इन पूरक-प्रेरकबल का स्वीकार न करे या इनकी पूरकता या प्रेरणा की परवाह न करे तो अनुबन्ध कैसे जुड़ेगा? शुरू-शुरू में पूरक-प्रेरकबलों को कांग्रेस के साथ अनुबन्धित करने से शायद तथाकथित एकहत्थी-सत्ताकांक्षी या भ्रष्ट कांग्रेसी लोग चौंकें, भड़कें, उन्हें बुरा लगे, अखरने लगे, वे विरोध भी करें या अनधिकारचेष्टा अथवा पक्षनिष्ठा का आरोप भी लगायें तथापि उक्त दोनों, बल्कि साधुवर्ग सहित तीनों बलों को कांग्रेस के न चाहने पर भी अनुबन्ध का सतत पुरुषार्थ करते रहना होगा। शुरूआत में स्थानीय स्तर से कदाचित् विरोध रहे, परन्तु उच्चस्तरीय कांग्रेसजनों का प्रायः समर्थन रहेगा। फिर यह विरोध मध्यमस्तर पर चला जायगा। इतने में तो नीचे का लोकसंगठनबल बढ़ चुकेगा और जब तक यह विरोध ऊपर के स्तर तक पहुँचेगा, तब तक तो नीचे का लोकबल और ऊपर के नैतिक-आध्यात्मिकबल इतने बढ़ चुकेंगे कि समग्र कांग्रेस स्वयं विरोध में रहे तो भी अन्त में इन तीनों संगठनों (बलों) के साथ कांग्रेस के मीठे सम्बन्ध रहेंगे और उसे इन तीनों बलों की क्रमशः पूरकता, प्रेरकता और मार्गदर्शकता देश और विश्व के हित के लिए उसे स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यों तो

का विशाल श्रम करना होगा। दूसरी ओर मर्यादित लोकसेवकों को साधुओं के प्रति घृणा, अपनी गौरवग्रन्थी एवं पूर्वाग्रह छोड़ कर, प्रेमभाव और आदरभाव से साधुओं से मिलना पड़ेगा। दोनों को दोनों की शक्ति की जरूरत रहेगी। साधुसंन्यासीवर्ग समाजनिर्माण के कई कामों में अपनी साधुमर्यादा के कारण प्रत्यक्ष भाग नहीं ले सकेंगे। कई कामों में उनका अनुभव भी नहीं। और समाज में सब काम सब नहीं कर सकते। सबकी अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं, रहेंगी। जो काम साधु स्वयं नहीं कर सकते या जिन कामों में प्रत्यक्ष रूप से वे जुट नहीं सकते, उनमें उनको अपने हाथपैर-समान सहायक लोकसेवकों की जरूरत रहेगी ही। लोकसेवकों के तपत्याग की भी विश्वव्यापी अनुबन्ध जोड़ने और सर्वक्षेत्रों की नैतिक-धार्मिक चौकीदारी करने, समाज को घड़ने और मार्गदर्शन देने में अमुक मर्यादा रहेगी। इन्हें इसमें क्रान्तिप्रिय व्यापकसर्वांगीदृष्टि वाले अनुबन्धकारों की जरूरत रहेगी; जो विशेष तपत्याग-बलिदान और निःस्वार्थता की पूंजी द्वारा विश्वानुबन्ध, शुद्धि, निर्माण और व्यापक प्रचार में सहयोग दे सकें।

विविध धर्म के साधुसंन्यासियों को भी धर्मान्तर कराने की प्रवृत्ति छोड़ कर सर्वधर्मसमन्वयदृष्टि से परस्पर सम्पर्क करना चाहिये; और अपनी दृष्टि व्यापक और सर्वांगी बन कर धर्मदृष्टि से समग्रसमाज का निर्माण करने में स्वशक्ति लगानी चाहिये, तभी आध्यात्मिकता सक्रिय बनेगी, स्वपरकल्याण-साधना होगी।

मतलब यह है कि प्रयोगसमर्थित चारों बलों का अनुबन्ध होना जरूरी है, उसके बिना विश्व का, समग्रमानवसमाज का सर्वांगीण निर्माण होना कठिन है। और जैसे महाभारतयुग में सभी बल अलग-अलग होने से समाज पर संकट आया वैसे ही अगर सभी बल अलग-अलग रहे तो अनिष्ट बढ़ने की शंका है।

वैसे तो महात्मा गांधीजी ने अनुबन्धप्रयोग की सड़क साफ करके रखी है। प्रखर [illegible] और पू० मुनिश्री संतबालजी ने भालनलकांठा आदि प्रदेशों में [illegible] [illegible]रचना का प्रयोग करके अनुबन्ध-कार्य की सड़क पक्की बनाई है। [illegible] सिद्ध भी कर बताया है, उक्त चारों संगठनों का गठन और उनका अनुबन्ध करके। संतविनोबाजी भी (चाहे आज न मानते हों; परन्तु उनके निम्नलिखित विचार) इस प्रकार के संगठन और अनुबन्ध द्वारा समग्रसमाज के निर्माण की साक्षी देते हैं—

"देश की वर्तमान हालत की मीमांसा करते हुए मैंने बताया था कि एक तो अधिकारी पक्ष रहेगा, जो लोगों की ओर से बहुसंख्या के आधार पर राजकाज की जिम्मेवारी उठाएगा और दूसरा एक विरोधी पक्ष (जनबल या पूरकबल) होगा, जो उसके कार्यों में प्रतिसहकार करेगा यानी जहाँ सहकार की आवश्यकता मालूम हो, वहां सहकार करेगा और जहां विरोध की आवश्यकता हो, वहां विरोध करेगा। ......इनके अलावा एक तीसरा निष्पक्ष समाज होना चाहिए, जिसकी गिनती न अधिकारी पक्ष में होगी, न विरोधी पक्ष में। बल्कि वह एक अलग जमात होगी, वह जमात सेवा के काम में लगी हुई होगी। इस तरह की जमात जितनी विशाल और शक्तिशाली होगी, उतने ही राजतंत्र और लोकतंत्र दोनों ही मर्यादा में रहेंगे। उसका एक बड़ा भारी देशव्यापी कार्यक्रम होगा। बुनियादी और प्राथमिक काम ...... अपने जीवन की शुद्धि और अपने कुटुम्बीजन, मित्र, सहधर्मी सबकी जीवनशुद्धि नित्य निरंतर परखते रहेंगे। सदा निर्भय और संयम (वाक्कायमनः संयम) युक्त बनने का उनका प्रयत्न रहेगा। दूसरी बात—नित्य निरंतर अध्ययनशील रहना होगा। तीसरी बात—...... समाजसेवा के ...... खासकर उपेक्षित क्षेत्र ... जिन्हें आगे ले जाने में समाज और सरकार दोनों का ध्यान नहीं

इन तीनों का सुमेल हो जाय तो भारत द्वारा समग्रसमाज और
का बेड़ा पार [illegible] सचमुच इन तीनों—अलग-अलग पड़े
-प्रयोगों को अनुबद्ध करने का काम विश्ववात्सल्यसाधक धर्म-
तप्रिय साधुसंघ [illegible] नलकांठा-प्रदेश में पू० मुनिश्री
लजी म० को [illegible] हो [illegible] है।

सभी बलों के संगठित और अनुबद्ध होने पर ही सच्ची विश्वशान्ति
सकती है और सारा ही समाज [illegible] सुस्थिर, समरस, सुन्दर और
दुःखमुक्त हो सकता है।

८

शुद्धि

अनुबन्ध के बाद प्रस्तुत प्रयोग का अंग 'शुद्धि' है। मानवस्वभाव बड़ा विचित्र है। समाज को विभिन्न इकाईयों में विविधभूमिकानुरूप संगठित और परस्पर अनुबद्ध कर देने के बाद भी मनुष्य बार-बार भूलें करता है, अपराध करता है, अन्याय और हिंसक संघर्ष करता है। अगर उस समय उसकी भूल, अपराध या अनिष्ट को सुधारा या मिटाया न जाय, उस व्यक्ति का हृदय शुद्ध न किया जाय या उसकी शुद्धि के प्रति उपेक्षा की जाय तो उस अशुद्धि का प्रभाव धीरे-धीरे सारे समाज पर पड़ेगा, सारे समाज को उस अनिष्ट का चेप लगेगा और एक दिन उस सभ्य और सुसंस्कृत बने हुए समाज में अशुद्धियों के संस्कार बद्धमूल हो जायेंगे। शरीर में एक जगह फोड़ा उठा हो, उस समय अगर उसकी उपेक्षा की जाय, उसका मवाद निकाल कर साफ न किया जाय तो उसका असर शरीर के सारे अवयवों पर पड़ेगा और एक दिन वह फोड़ा सारे शरीर में विष फैला कर शरीर का ही अन्त कर देगा। उसी प्रकार समाज-शरीर में भी अनिष्ट—अशुद्धि-रूपी फोड़े का शीघ्र इलाज न करने पर होता है। शरीर के विविध अवयव संगठित और पुष्ट होने पर भी बहुधा मनुष्य की लापरवाही के कारण उसमें अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार समाजरूपी शरीर के विविध अवयवों के संगठन और अनुबन्ध होने से पुष्ट और सुडौल बने हुए समाजशरीर में भी व्यक्तियों की असावधानी के कारण अनेक अनिष्टरोग समय-समय पर पैदा हो जाते

है। इस नीति पर यदि समाज के मार्गदर्शक और प्रेरक उपेक्षा या उदासीनता धारण कर लें, चुप्पी साध लें या उस अनिष्टकर रोग को चलने दें तो समग्र समाज-शरीर में शनैः शनैः अनिष्टकर रोगों या अनिष्टकारों का साम्राज्य जम जाता है। उसका चेप सारे समाज को लगता है। और अनिष्टकारी व्यक्ति या वर्ग सिर ऊँचा किए, सीना ताने समाज में प्रतिष्ठित होकर घूमता रहता है। कोई उसके सामने चूं-चपड़ नहीं कर सकता। इसीलिए अनुबन्ध के बाद शुद्धि भी प्रयोग का महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य अंग माना गया।

अशुद्धि का प्रवेश

चिनगारी छोटी-सी होती है, परन्तु अगर उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो वह आग का रूप धारण करके सारे घास के ढेर को जला देगी। बिच्छू का डंक छोटी-सी जगह पर लगता है, परन्तु उस पर कोई ध्यान न दिया जाय तो वह सारे शरीर में पीड़ा फैला देता है। इसी प्रकार अशुद्धि का आरम्भ एक व्यक्ति के जीवन की छोटी-सी घटना से होता है। एक व्यक्ति की अशुद्धि भले ही उसकी अकेले की हो, व्यक्तिगतजीवन से सम्बन्धित हो, फिर भी व्यक्ति समाज में जीता है, समाज का ही एक अंग है; इसलिए उसका असर समाज पर पड़े बिना रहता नहीं। जैसे शरीर के किसी भी अंग में हुआ क्षयरोग अन्ततः सारे शरीर का अन्त कर देता है, वही हाल समाज का होता है। इसलिए समाज और व्यक्ति के उत्थान-पतन एक-दूसरे से संलग्न हैं।

ढलाव वाले मार्ग पर चढ़ने में बड़ी कठिनाई होती है, उतरना सरल होता है। इसी तरह जीवन के उत्थान-मार्ग में आरोहण करना कठिन होता है, अवरोहण सुगम। पतन का मार्ग फिसलन वाला होता है। मगर यह भी सच है कि जब मनुष्य पतनपथ की ओर लुढ़कता

होजाता है। [illegible] के लिए [illegible] में समाज के [illegible]
के रूप में '[illegible]' तथा '[illegible]' [illegible] विशेष
प्रगट किये गये हैं, जिनका अर्थ होता है—[illegible] की ओर जाते हुए को
निषेध (मना या रोकने) करने वाला तथा समाजशुद्धिकर्ता के साथ-
साथ समाज को ठीक तौर से [illegible] करने वाला। अतः अब समाज
में अशुद्धिप्रवेश न हो, इसकी [illegible] पहरेदारी रखनी-रखानी
आवश्यक है।

शुद्धि का प्रसंग सभी क्षेत्रों में

वर्तमान जगत् में अनिष्टों—अशुद्धियों के प्रवेश की गुंजाइश प्रायः चार बड़े क्षेत्रों में है—(१) सामाजिक, (२) आर्थिक, (३) राजनैतिक और (४) सांस्कृतिक। इनमें अशुद्धि न घुसे और घुसती हो तो कैसे निकाली जाय? यह विचारना जरूरी है। सामाजिक क्षेत्र में कुटुम्ब, ज्ञाति, ग्राम, नगर, संस्थाएँ, समाज आदि के सभी प्रश्न आ जाते हैं। अतः कुटुम्ब आदि में कहीं भी किसी भाई या बहन पर किसी व्यक्ति या गिरोह द्वारा कोई भी अन्याय, अत्याचार, ईरानी धोखेबाजी आदि हो रही हो, कोई भी व्यक्ति दुराचार, अनाचार, व्यभिचार या कुव्यसन (जुआ-चोरी आदि) में फंस रहा हो तो उन सभी अशुद्धियों का निवारण यथाशीघ्र होना जरूरी है। आर्थिक क्षेत्र में व्यापार, धंधे, मजदूरी, नौकरी, उद्योग आदि में लेनदेन के झगड़े, विवाद, व्यापार में अनैतिकता, चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, तस्कर-व्यापार, करचोरी, माल में मिलावट, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, रिश्वतखोरी, तौलमाप में गड़बड़ी, बेईमानी, गबन, धोखेबाजी, हकहरण, चोरी आदि अशुद्धियों का निवारण भी अत्यन्त जरूरी है। राजनैतिकक्षेत्र में सत्ताप्राप्ति के लिए विविध हथकंडे या अनैतिक उपाय अजमाना, हिंसावादी, तोड़फोड़वादी, कौमवादी, पूंजीवादी या सत्तावादी पक्षों

का सत्ता पर आजाना या उनके द्वारा सत्ता के लिए अराजकता, दंगे, हड़ताल आदि करवाना, सत्ताधारियों में भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, गबन इत्यादि अशुद्धियाँ मिटानी भी आवश्यक हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में भाषा, शिक्षा, संततिनियमन आदि के प्रश्नों को लेकर प्रविष्ट होने वाली अशुद्धियाँ दूर करना जरूरी है। इसी प्रकार धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रीय अशुद्धियाँ भी बारीकी से विश्लेषण और निरीक्षण करके मिटाई जानी आवश्यक हैं।

शुद्धि के उपाय और अंग

जैसे शरीर, कपड़े आदि जड़पदार्थों की शुद्धि (सफाई) के अनेक प्रकार हैं। किसी चीज को मिट्टी से मांज कर साफ की जाती है, किसी को साबुन या पानी से धो कर साफ की जाती है, किसी को आग में तपा कर उसका मैल निकाला जाता है, किसी को कूड़ा-कचरा हवा से उड़ा कर या झाड़ू से बुहार कर साफ किया जाता है, किसी चीज की शुद्धि के लिए आसपास की फालतू चीजों को उखाड़ दिया जाता है; किसी को पालिश से चमका कर या उस पर चूने, रंगरोगन आदि की पुताई-रंगाई करके शुद्ध व चमकदार बनाया जाता है, शरीर में कोई रोग हो या विजातीय द्रव्य इकट्ठा हो गया हो तो दवा, जुलाब या उपवास, एनिमा द्वारा उसकी शुद्धि की जाती है। कोई फोड़ा हो गया हो तो नश्तर लगा कर ऑपरेशन द्वारा शुद्धि की जाती है। वैसे ही यहाँ भी मानवात्माओं की शुद्धि या सुधार भी उनकी भूलों, अपराधों, दोषों या गलतियों के प्रकार व अनुपात को देख कर, तीव्र, मन्द भावों के अनुरूप कभी केवल अपने दोषों का निरीक्षण करके, दोषनिवारण के उच्चारण करने मात्र से या प्रभु से माफी मांग लेने मात्र से, कभी पश्चात्ताप से, कभी आत्मनिन्दा से, कभी गुरु, समाज के अगुआ या समूह के सामने दोषों का स्वीकार और जाहिरात करने से, कभी प्राय-

या नहीं ? यानी शुद्धिप्रयोग से पहले गुनाह की पक्की जांच-पड़ताल समझाहट, निषेध, मध्यस्थप्रथा द्वारा फैसले के लिए मनाव, जाहिरात, असहकार, बहिष्कार, भूल सुधारने को अवसर-प्रदान, या किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा तपत्यागात्मक प्रतीकार आदि द्वारा गुनहगार की प्रतिष्ठा भंग करने के सिवाय उस पर नैतिक-सामाजिक-दबाव डालने के सभी यथासम्भव उपाय अजमा लिए जाने चाहिए। यदि इतने पर भी गुनहगार व्यक्ति या पक्ष न माने और वह समझने-समझाने के द्वार ही बन्द कर ले, किसी भी प्रेमपूर्वक कही गई सच्ची हितकर बात को सुनने और मानने को जरा भी तैयार न हो, तब शुद्धिप्रयोग* करने की नौबत और भूमिका आती है। इसके अतिरिक्त निम्नोक्त भूमिका भी शुद्धिप्रयोग के पूर्व साफ हो जानी चाहिए—

(१) समाज के साथ अभिन्नता——समाज में प्रविष्ट अशुद्धि समाज के एक अंग के रूप में मेरे जीवन में प्रविष्ट अशुद्धि है। जहाँ हृदय की एकता हो, वहाँ शुद्धिप्रयोग किसी अमुक व्यक्ति के खिलाफ नहीं, पर अपने आपकी जागृति और शुद्धि के लिए है। सिरदर्द होने पर पेट उपवास करता है, वह सिर के खिलाफ उपवास नहीं, किन्तु शरीर के एक अंगभूत होने के नाते उसकी शुद्धि के लिए है। मानवसमाज में जो जीते हैं, वे सब समाज के ही अंग हैं। हम भी उनमें से एक अंग हैं। इसलिए अलग नहीं हैं। प्रयोग की भूमिका

---

*जिन्हें इन प्रयोगों का गहराई से अध्ययन करना हो वे लेखक की 'शुद्धिप्रयोगनी पूर्वप्रभा' 'शुद्धिप्रयोग की झांकी,' 'अहिंसक प्रयोग की सफलताएँ;' तथा पू० मुनिश्री संतबालजी म० की 'धर्मानुबंधी विश्व-दर्शन भाग-६,' नवलभाईशाह की 'शुद्धिप्रयोग,' दुलेराय माटलिया की 'शुद्धिप्रयोग, मारी दृष्टिए' तथा अम्बुभाई शाह की 'शुद्धिप्रयोगनां सफलचित्रो' आदि पुस्तकें पढ़ें।

इनका निर्वाचन करके उनकी दिनाङ्कक्रम से सूची पहले से बना लेनी चाहिये।

यद्यपि कोई कह सकता है कि शुद्धिप्रयोग तो संत या मुक्त पुरुष ही कर सकते हैं, परन्तु ऐसी बात नहीं है। यों तो पूर्ण शुद्ध तो वीतराग पुरुष ही होते हैं, परन्तु इस शुद्धियज्ञ में तो समाज में जीने वाला और समाज का श्रेय चाहने वाला कोई भी व्यक्ति भाग ले सकता है, बशर्ते कि सामाजिकदृष्टि से वह निम्नोक्त गुणों और शुद्धियों से युक्त हो—(१) उसमें व्यक्तिगत या संस्थागत किसी पर वैयक्तिक रागद्वेष न हो; (२) उक्त प्रश्न के सम्बन्ध में उसका कोई निहितस्वार्थ या पूर्वाग्रह न हो; (३) शुद्धिप्रयोग में जुड़ने वाला व्यक्ति तटस्थ हो, यानी वह मसला उसका स्वयं का न हो, (४) उसका व्यवहारिक जीवन लोकविश्वास व शुद्ध हो; (५) वह व्यक्ति शराबी, जुआरी या भंगेड़ी-गंजेड़ी न हो, ताकि जनता उस पर विश्वास कर सके, (६) उसका चरित्र निर्मल हो, (७) उस पर चाहे जितने आक्षेप हों तो भी वह शान्ति से सुनने और वास्तव में भूल हो तो स्वीकार करने के लिए तैयार हो। (८) उसका अहिंसा व समाजशुद्धि में दृढ़ विश्वास हो, स्वकीय जीवनशुद्धि के लिए आग्रही हो, साथ-साथ समाज में प्रचलित अशुद्धि को देख कर करुणा से हृदय द्रवित हो उठता हो, (९) या तो कांग्रेसी हो या किसी भी राज० पक्ष का न हो, तटस्थ व निर्लेप हो, मगर कांग्रेसविरोधी न हो। (१०) जनसेवकों की संस्था (प्रायोगिक संघ) द्वारा वह निर्वाचित हो।

इसके बाद इस प्रकार का कार्यक्रम शुद्धिप्रयोग में रखना आवश्यक है—

(१) शुद्धसामूहिक संकल्प—चूंकि शुद्धिप्रयोग में अपराधी के हृदय को झकझोर कर जगाना होता है, इसलिए शुद्ध और सामू-

ाह में लम्बे-लम्बे और शर्ती आमरण अनशन तक करने होते
पवास के साथ कई बार अमुक वस्तुओं का त्याग भी होता है।

(४) सफाई——शुद्धिप्रयोगवीर को केन्द्र व आसपास की
भी जनता को स्वावलम्बन के बोधपाठ के हेतु स्वयं करना
है।

(५) कताई——गरीबों के साथ एकतार होने के लिए श्रम और
ा की प्रतीक चर्खे द्वारा सूत्रकताई-यज्ञ है, वह भी जरूरी है।

(६) स्वाध्याय——सतत जागृति और आत्मनिरीक्षण के लिए
और जीवनोपयोगी पुस्तकों का स्वाध्याय भी नियमित होना
ै।

(७) वातावरणनिर्माण——समाज में शुद्धि का वातावरण
। तथा दबी हुई, भयभ्रान्त एवं अपनी व्यथा स्वयं प्रगट कर सकने
लाचार जनता में निर्भयता एवं नैतिक साहस पैदा करने के लिए
रहित सौम्य सूत्रों का उच्चारण करते (नारे लगाते) हुए प्रभात-
सान्ध्यजुलूस, धुन, सार्वजनिक प्रार्थनासभा, पत्रिकावाचन वगैरह
क्रम भी शुद्धिप्रयोगकारों द्वारा अपनाने चाहिये। जुलूस या
फेरी आदि कार्यक्रमों में बाहर की भजनटुकड़ियाँ (जत्थे) तथा
ाय योग्य व्यक्तियों को भी शामिल किया जा सकता है।

शुद्धिप्रयोग में सावधानी

परन्तु ऐसे सामूहिक शुद्धिप्रयोगकर्ताओं को प्रतिक्षण सावधानी
पूरी-पूरी जागृति रखनी चाहिए।

(१) शुद्धिप्रयोग में राज्याश्रय न लेना——शुद्धिप्रयोग लोक
ति, समाजशुद्धि और शुद्ध [illegible] क्रान्ति का प्रयोग है।

शांतिसहायक टुकड़ियों ने जाकर शांतिस्थापना की थी। यद्यपि उनमें से कइयों को उस समय काफी मार, आक्षेप और गालियाँ सहनी पड़ीं, फिर भी उन्होंने पुलिस या कानून आदि का आश्रय न लेकर शान्ति से इन्हें सहीं। जो शांतिसहायक के रूप में भी कार्य न कर सकें या तद्योग्य न हों वे शांति-चाहक के रूप में तैयार हो सकते हैं। उनका काम मुख्यतया यही रहेगा कि जहां दंगा-फसाद या उपद्रव हो रहा हो, वहाँ दंगाइयों, अराजकतावादियों और तोड़फोड़ करने वालों को किसी प्रकार का सहयोग, प्रोत्साहन या प्रतिष्ठा न दें; न उनके आन्दोलनों में शरीक हों। हो सके तो उनके दुष्कृत्यों की सामूहिकरूप से जाहिर में सौम्यशब्दों में भर्त्सना करें, अखबारों में भी आवेशरहित भाषा में उनके दुष्कृत्यों का पर्दाफाश करें। इससे अशान्तिवादियों की दाल गलने नहीं पायेगी और वे उक्त अशांति की प्रक्रिया को वहीं शमित करने के लिए बाध्य हो जायेंगे। बम्बई में जिस समय संयुक्त समाजवादियों की ओर से सरकारी कर्मचारियों से हड़ताल कराई गई, उस समय उनको प्रोत्साहन न देकर जनता के शांतिचाहकवर्गों ने विभिन्न कार्य अपने हाथों में लेकर बखूबी सम्पन्न किये, जिससे उनकी अशांतिप्रक्रिया आगे न चल सकी। हड़ताली लोग माफी मांगकर पुनः काम पर लग गये।

शुद्धि समाजव्यापी होगी

इस प्रकार प्रयोग द्वारा आचरित शुद्धि की पूर्वोक्त सभी प्रक्रियाओं से प्रयोगमान्य संस्थाओं द्वारा सारे समाज में शुद्धि व्यापक होगी, [illegible] होगी, [illegible] होगी और उस शुद्धिबल में आत्मा से [illegible] की सहयोग से [illegible] शामिल हो सकेगा। और ऐसी शुद्धि काल्पनिक या औपचारिक नहीं, अपितु अनुभव की भाषा में [illegible] और चिरस्थायी होगी।

होने ही चाहिये। जनसेवकों में कुछ कमी हुई तो प्रतिदिन के समाज निर्माण के विविध कार्यों द्वारा उन्हें प्रशिक्षण मिलता रहेगा, जिससे पूर्ति हो जायगी। जनसंगठन को शुद्धिप्रयोग, शांतिसहायक-टुकड़ी आदि के अवसर पर तो तालीम मिलेगी ही, और भी कई प्रशिक्षण के साधन हैं।

प्रशिक्षण का महत्व

प्रशिक्षण समाज-निर्माण का महत्वपूर्ण अंग है। शरीर एक यंत्र है। वह किसी न किसी दिन बिगड़ने वाला ही है। परन्तु इसके द्वारा ऐसा कार्य किया जा सकता है, जो अमर भले ही न हो, परन्तु चिरस्थायी अवश्य होता है। परन्तु जो जिन्दादिल होते हैं, वे शरीरयन्त्र चाहे कितना ही बिगड़ गया हो, अपने जीवन के साथ-साथ समाजजीवन के निर्माण का कार्य करते ही रहते हैं। उनको ऐसा करने की शक्ति या उत्साह प्रशिक्षण के द्वारा ही मिलता है। प्रशिक्षित व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों के आगे घुटने नहीं टेकता। वह परिस्थितियों से जूझना जानता है, और किसी भी परिस्थिति में एक या दूसरी दिशा से कर्त्तव्यक्षेत्र में प्रवेश करके अपना कर्त्तव्य करने से नहीं चूकता। जबकि अप्रशिक्षित आदमी निरुत्साही और बुजदिल होने से किसी कर्त्तव्य में हाथ नहीं डालता। वह मनसूबे बांधेगा, पर कर्त्तव्य की राह पर चल नहीं सकेगा। इसलिए प्रशिक्षण एक ऐसी रोशनी है, जो मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के अंधेरे से बचाती है।

व्यक्ति के निर्माण में सामाजिक मूल्य का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण प्रायः सामाजिक वातावरण के अनुरूप होता है। इसलिए गलत सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिए शुद्ध सामाजिक वातावरण की भी जरूरत होती है, जिसकी पूर्ति प्रशिक्षण करता है। प्रशिक्षण एक साथ सामूहिक सुन्दर वातावरण मिलता है,

होने ही चाहिये। जनसेवकों में कुछ कमी हुई तो प्रतिदिन के समाज निर्माण के विविध कार्यों द्वारा उन्हें प्रशिक्षण मिलता रहेगा, जिससे पूर्ति हो जायगी। जनसंगठन को शुद्धिप्रयोग, शांतिसहायक-टुकड़ी आदि के अवसर पर तो तालीम मिलेगी ही, और भी कई प्रशिक्षण के साधन हैं।

प्रशिक्षण का महत्व

प्रशिक्षण समाज-निर्माण का महत्वपूर्ण अंग है। शरीर एक यंत्र है। वह किसी न किसी दिन बिगड़ने वाला ही है। परन्तु इसके द्वारा ऐसा कार्य किया जा सकता है, जो अमर भले ही न हो, परन्तु चिरस्थायी अवश्य होता है। परन्तु जो जिन्दादिल होते हैं, वे शरीरयन्त्र चाहे कितना ही बिगड़ गया हो, अपने जीवन के साथ-साथ समाजजीवन के निर्माण का कार्य करते ही रहते हैं। उनको ऐसा करने की शक्ति या उत्साह प्रशिक्षण के द्वारा ही मिलता है। प्रशिक्षित व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों के आगे घुटने नहीं टेकता। वह परिस्थितियों से जूझना जानता है, और किसी भी परिस्थति में एक या दूसरी दिशा से कर्त्तव्यक्षेत्र में प्रवेश करके अपना कर्त्तव्य करने से नहीं चूकता। जबकि अप्रशिक्षित आदमी निरुत्साही और बुजदिल होने से किसी कर्त्तव्य में हाथ नहीं डालता। वह मनसूबे बांधेगा, पर कर्त्तव्य की राह पर चल नहीं सकेगा। इसलिए प्रशिक्षण एक ऐसी रोशनी है, जो मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के अंधेरे से बचाती है।

व्यक्ति के निर्माण में सामाजिक मूल्य का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण प्राय: सामाजिक वातावरण के अनुरूप होता है। इसलिए गलत सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिए शुद्ध सामाजिक वातावरण की भी जरूरत होती है, जिसकी पूर्ति प्रशिक्षण करता है। प्रशिक्षण एक साथ सामूहिक सुन्दर वातावरण मिलता है,

(ज) फर्जियात बचत, श्रमनिष्ठा सादगी और फैशनत्याग की वृत्ति पैदा करना।

(झ) भांग, गांजा, अफीम, चुरुट, बीड़ी, सिगरेट, तमाखू आदि नशीली चीजों का त्याग करवाना।

(२) शुद्ध व्यावहारिक न्याय—(क) जनता में न्याय और न्यायी को प्रतिष्ठित एवं अन्याय और अन्यायी को अप्रतिष्ठित करना।

(ख) पारस्परिक झगड़ों, अन्यायादि मसलों में वर्तमान न्यायालयों तथा कानूनों के पंजे से छुड़वा कर शुद्ध, सस्ता और अविलम्ब न्याय मिल सके तथा उभयपक्ष में पुन प्रेमभाव रह सके किसी के मन में किसी के प्रति द्वेष की गांठ न रह जाय, इस दृष्टि से समझाने-बुझाने, बीचबिचाव करवाने, किसी का दबाव डलवाने, मध्यस्थप्रथा द्वारा पंच-फैसला दिलवाने, इस प्रकार के निपटारे का उभयपक्ष द्वारा पालन करवाने की ओर जनता को मोड़ना या अतिउत्कट परिस्थिति में सामूहिकरूप से तपस्यागात्मक शुद्धिप्रयोग की पद्धति की ओर झुका कर न्याय की व्यवस्था करवाना।

(ग) सरकारी कानून-भंग न करने की प्रेरणा देना।

(घ) किसी के प्रति अन्याय न करना, न करवाना तथा अन्याय-निवारण के लिए हिंसक पद्धति न अपनाना, कानून हाथ में न लेने की प्रेरणा देना। तथा अन्याय को चुपचाप न सहकर अहिंसक ढंग से सामूहिक रूप से प्रतीकार का रास्ता अपनाने की प्रेरणा देना।

(३) विश्ववात्सल्य (विधेयात्मक एवं निषेधात्मक उभय—रूपी पूर्ण अहिंसा) का आचरण—(क) जनता और जनसंगठन में कम से कम राष्ट्रवात्सल्य तक, जनसेवकों में विशाल मानवसमाज-वात्सल्य तक और साधुवर्ग में विश्ववात्सल्य तक की सक्रिय भावना पैदा करना।

(ख) जनता में अहिंसा, प्राणिरक्षा, दया, सेवा-शुश्रूषा, प्रेम, मैत्री, करुणा, प्रमोदभाव, माध्यस्थ्य, सद्भावना, सहिष्णुता, कौटुम्बिकता, सर्वजाति-राष्ट्र-धर्मसम्प्रदाय के प्रति आत्मीयता की भावना पैदा करना।

(ग) जनता को एक दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता बनाना, धर्मझनून दूर करना, धर्मान्तर-सम्प्रदायान्तर न करना, न करवाना, सर्वधर्म के सत्यों के प्रति गुणग्राही और समन्वयशील बनाना।

(घ) पारस्परिक कलहों, संघर्षों विवादों और झगड़ों का शान्तिपूर्वक न्याययुक्त निपटारा करवा कर दोनों पक्षों में क्षमापना करवाना।

(च) मांसाहार, शिकार, शोषण, अन्याय, अत्याचार, क्रूरदमन मारपीट, धर्म या देवी-देवों के नाम से प्राणि-वध आदि हिंसाजनक प्रवृत्तियों का त्याग करवाना।

(छ) अनिष्टों के निवारणार्थ सामूहिक रूप से तपत्यागात्मक अहिंसक शुद्धिप्रयोग की ओर प्रेरित करना।

(ज) उपद्रवों, दंगों आदि को शांत करने के लिए अहिंसक शान्ति सहायक, शान्तिचाहक या शान्तिसैनिक का प्रयोग करना, जनता के जानमाल की सुरक्षा के लिए 'सुरक्षादल' स्थापित करना। मतलब यह कि सारा व्यवहार अहिंसक ढंग से विश्ववात्सल्य को लक्ष्य में रखकर चले, ऐसी प्रेरणा देना।

(४) सत्य का आचरण—(क) परमसत्यप्रभु, अव्यक्तबल, जीवन और जगत की महानियामिका शक्ति (ॐ मैया) या ईश्वर अथवा परमात्मा (सिद्ध भगवान) पर दृढ़श्रद्धा पैदा करना।

(ख) जनता में आत्मा की उन्नति, आत्म-विश्वास, चैतन्यलक्ष्मी, आत्मभान या आत्मस्मृति से लेकर विश्वात्माओं के साथ ऐक्य तक की वृत्ति पैदा करना।

के प्रति कर्तव्य समझ कर सहायता व सहयोग देने, संविभाग करने की प्रेरणा देना।

(घ) समय आने पर या ग्राम, नगर, जिला, प्रान्त, राष्ट्र या समाज की अंगभूत किसी सुसंस्था पर संकट आने पर अपनी सम्पत्ति और साधनों में से भरसक उत्साहपूर्वक त्याग करने की प्रेरणा देना।

(ङ) किसी समाजसेवी, राष्ट्रसेवी या जनसेवी सार्वजनिक संस्था या निःस्पृह व्रतबद्ध जनसेवक को कर्त्तव्य समझकर सहयोग देने की प्रेरणा देना।

(७) पूर्णब्रह्मचर्य या मर्यादित ब्रह्मचर्य का आचार—(क) जनता का जीवन तेजस्वी व ब्रह्मचर्यलक्षी बने, इसके लिये फैशन, विलासिता, भोगलालसा, अमर्याद स्वस्त्रीसंभोग, इन्द्रियविषयों का अतिभोग, व्यभिचार, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, हस्तमैथुन, गुदामैथुन, उत्तेजक या नशीले खानपान, अश्लीलनाटक-सिनेमा-निरीक्षण, अश्लील गान-श्रवण, अश्लील साहित्यपठन आदि अब्रह्मचर्योत्तेजक (कामोत्तेजक) बातों से दूर रहने की प्रेरणा देना।

(ख) खानपान और शयन में विवेक; इन्द्रियों पर संयम रख और रात्रिभोजन के त्याग की प्रेरणा देना।

(ग) बीड़ी, तमाखू, भांग, गांजा, हुक्का, सिगरेट, अफीम आदि व्यसनों का त्याग करवाना।

(घ) जनता और जनसेवकों को हो सके तो पूर्णब्रह्मचर्य की, नहीं तो मर्यादित-ब्रह्मचर्य एवं संततिमर्यादा की प्रेरणा देना।

इस प्रकार नीति से लेकर ब्रह्मचर्य तक के धर्म के विभिन्न अंगों और उपांगों के आचार से, अभ्यास से समग्रसमाज का सर्वांगीण और सर्वक्षेत्रीय निर्माण करना, समाज को उनसे अभ्यस्त और सुसंस्कृत करने

लिए इन व्रत-नियमों या मर्यादाओं को शनैः शनैः संकल्प, आदत, भाव और संस्कृति में परिणत कर देना ही प्रशिक्षण का वास्तविक उद्देश्य है। इसलिए ये प्रशिक्षण के विषय हैं। धर्ममय समाजरचना प्रयोग का यह मुख्य आचारात्मक पहलू है।

धर्म के इन अंगोपांगों में समय समय पर युगानुसार कुछ नये व्रत-नियम या मर्यादाएँ जोड़ी जा सकती हैं। जैसे महात्मा गांधीजी ने अभय' 'स्वदेशी' 'शरीरश्रम' 'अस्वाद' और 'अस्पृश्यता-निवारण' को युगानुसार व्रतों में स्थान दिया। वैसे ही धर्ममय समाजरचना के प्रयोगकार युगद्रष्टा मुनिश्री संतबालजी महाराज ने भी व्रतों को व्यावहारिक, युगानुकूल एवं सर्वधर्मानुरूप बनाने की दृष्टि से विश्ववात्सल्य, सत्यश्रद्धा, ब्रह्मचर्य, मालिकी-हकमर्यादा ये चार मूलव्रत और व्यवसाय-मर्यादा, सर्वधर्मउपासना, निन्दाश्लाघापरिहार, विभूषात्याग, व्यसन-त्याग, खानपानशयनविवेक, रात्रिभोजनत्याग और सदाचना ये ८ उपव्रत या नियम नियत किये हैं।

प्रयोगमान्य संस्थाओं में से राष्ट्रीयमहासभा (कांग्रेस) न्याय-निष्ठा तक, जन-संगठन नीतिनिष्ठा तक, जनसेवकसंगठन धर्मनिष्ठा तक और क्रांतिप्रिय साधुवर्ग अध्यात्मनिष्ठा तक बढ़ेंगे। परन्तु समग्रसमाज के विचार और आचार में बहुत अंशों तक धर्म के ये अंगोपांग प्रशिक्षण के माध्यम से व्याप्त हो सकेंगे। इसके अलावा इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वाणी एवं काया के उपयोग एवं व्यवहार भी प्रशिक्षण के विषय हैं। पर इन सबका प्रशिक्षण अव्यक्तरूप से पूर्वोक्त व्रत-नियमों में से ही होता रहेगा।

प्रशिक्षण के विविध साधन

यों तो प्रशिक्षण सारी जिन्दगीभर का कोर्स है; परन्तु कुछ बातों का प्रशिक्षण अमुक अवधि या अमुक अवसर पर ही लिया या दिया

एकत्र होने वाले एवं एक दूसरे से प्रेम करने वाले करता हूँ। आप सब समानचित्त हों, तत्परता से कर्त्तव्यपालन करें। आप सब सत्य या आत्मा की रक्षा करते हुए दिव्यजनों की तरह सायं-प्रातः अवश्य सुमन बनो।"

यह थे समाज और राष्ट्र की धर्ममय सुरचना के मंत्र; जिन्हें पाकर भारतवासीजन धर्मनिष्ठ और पुण्यशाली हो सके थे।

इसी प्रकार 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' इस मन्त्र को लोकमान्य तिलक ने प्राप्त किया था। उन्होंने इसका उच्चारण ही नहीं, इसके अनुरूप आचरण भी किया, राष्ट्र को सिखाया। महात्मा गांधीजी ने सारे देश को २७ वर्ष तक यह स्वराज्यमंत्र घुटाया। और एक दिन इस मन्त्र से प्रशिक्षित भारतीय जनता बोल उठी—"अब हमें विदेशी शासन नहीं चाहिये।" फलस्वरूप अंग्रेजों को भारत छोड़कर ज पड़ा।

भ० महावीर ने मन्त्र दिया—'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ केणइ'। इसी प्रकार भ० बुद्ध ने मंत्र दिया—'चरथ भिक्खवे बहुज हिताय, बहुजनसुखाय।' इसी प्रकार स्वामीविवेकानन्द ने अपने शिष्य से यही कहा—"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्हिताय च"। "जगत् की सेव और हित के लिए और उसके माध्यम से अपने मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करो।"

वस्तुतः धर्ममय समाजरचना के प्रयोग में भी समय-समय पर समाज के सभी अंगों को समयानुकूल उपयुक्त मन्त्रों द्वारा प्रशिक्षण मिल सकेगा।

(२) सूत्र—मन्त्र की तरह विविधसूत्र भी प्रशिक्षण में उपयोगी सिद्ध होते हैं; बशर्ते कि वे जीवनस्पर्शी हों आ

समस्वारस्पर्शी हों। शुद्धिप्रयोग-काल में प्रभातफेरी, सान्ध्यफेरी के समय ऐसे प्रेरक 'सूत्रों' के उच्चारण समाज में नीति-धर्म के सुसंस्कारों को उद्‌बुद्ध कर देता है। जैसे भालनलकांठाप्रदेश (गुजराजवर्ती प्रयोगक्षेत्र) में हुए एक शुद्धिप्रयोग में उच्चारण किये गये ५ सूत्रों का नमूना देखिये—

"१- सद्‌बुद्धि मिलो, सद्‌बुद्धि मिलो, पथभ्रष्ट भाई को सद्‌बुद्धि मिलो।

२- साहस करो, साहस करो, सच कहने का साहस करो।

३- शक्ति मिलो, शक्ति मिलो, अपराध-स्वीकार की शक्ति मिलो।

४- निडर बनो, निडर बनो, सब ग्रामजन निडर बनो।

५- क्यों डरते हो? क्यों डरते हो? सत्य कहने का दृढ़ निश्चय करो।"

इस प्रकार के और भी प्रसंगोचित सूत्र विविध प्रसंगों पर बनाए जा सकते हैं। जैसे द्विभाषीराज्य तोड़ने के लिए अहमदाबाद में महागुजरात-जनतापरिषद् द्वारा किये गये दंगे के समय शान्ति स्थापित करने हेतु गई हुई ग्रामजनों की शांतिटुकड़ियों ने 'गुजराती महाराष्ट्री भाई-भाई' का सूत्र उच्चारण किया था।

(३) दैनिक प्रार्थना (सामूहिक)—प्रार्थना से भी सामाजिक जीवन में व्रतपालन; प्रभु के सामने शुद्ध संकल्प, प्रतिज्ञा या व्रत में हुई अशुद्धि के लिए पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त शुद्धि और शान्ति के संस्कार सुदृढ़ होते हैं और जिससे मनुष्य के मन, वाणी, इन्द्रिय और बुद्धि को प्रभुमय बनने और श्रद्धापूर्वक समर्पित होने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार सामूहिक प्रार्थना से शान्ति, शुद्धि और पुष्टि का वातावरण बनता है, उसी वातावरण में से समाज के सभी अंगों को अपने-अपने

हैं और वे प्रयोग के क्षेत्र में भी निष्णात हो सकते हैं। बारबार के मार्गदर्शन से सदस्य [illegible] काम [illegible] हो जाता है कि विभिन्न उलझनों के समय फिर संचालक के सहारा लिए रहकर अपनी सूझबूझ व पूर्व-अनुभवों के आधार पर मार्ग निकालने में अभ्यस्त हो जाते हैं। प्रशिक्षण यही काम करता है। मार्गनिर्देश भी मार्गदर्शन के ही अंग माने जाते हैं।

(८) उपदेश— उपदेश भी प्रशिक्षण का एक अंग है, बशर्ते कि वह उपदेश समाज राष्ट्र और विश्व की गतिविधि एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पात्र वगैरह देख कर यथायोग्य दिया गया हो। पहले बताए गए धर्म के सभी अंगोपाङ्गों के बारे में केवल एक धर्म के शास्त्रीयप्रमाणों से ही नहीं, सभी धर्मों के शास्त्रीयप्रमाण देकर समझाया जाय, और फिर युगानुकूल सक्रिय आचरण हो सके, इस प्रकार का उपाय समझाया जाय। अन्यथा उपदेश भी कई बार श्रोताओं को निष्क्रिय और केवल सुनने तक ही सीमित बना देता है। उपदेश को हम दो भागों में बांट सकते हैं— (१) मौखिक उपदेश और (२) लेखिक उपदेश। इन दोनों उपदेशों के भी साम्प्रदायिक और सार्वजनिक दो भेद हो सकते हैं। यहां सार्वजनिक उपदेश ही उपादेय है। इसके व्याख्यान, भाषण, प्रवचन, और वक्तव्य आदि पर्यायवाची नाम हैं। लेखिक उपदेश या तो किसी पत्र, पत्रिका या पत्रव्यवहार के माध्यम से पाठकों तक पहुंचता है या किसी प्रकाशित पुस्तक के माध्यम से। उपदेश भी हृदयपरिवर्तन एवं विचारपरिवर्तन का एक माध्यम है।

(९) आदेश— उपदेश, मार्गदर्शन, और प्रेरणा के बाद आदेश का नम्बर आता है। कई बार सामाजिक मूल्य नष्ट हो रहे हों, संस्कृति के तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, तब तुरन्त उसका निवारणोपाय न किया

जाय तो उसकी प्रतिक्रिया बहुत ही भयंकर होती है। समाज में जब कोई व्यक्ति किसी तरह न मानता हो, धर्म चूक रहा हो तब, या किसी दुर्बल निर्दोष प्राणी को क्रूर बन कर कोई मार रहा हो, उस समय ही आदेश का उपयोग किया जाता है। आदेश भी विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार का, भूमिका देखकर धर्मानुलक्षी दिया जाता है। जैसे—'पशुहत्या मत कर' यह निषेधात्मक है, परन्तु दया करो, रक्षा करो या सेवा करो यह विधेयात्मक धर्म का आदेश है। आदेश को आज्ञा और अनुज्ञा भी कहते हैं। अनुमति और सहमति भी आज्ञा की पूर्वक्रियाएँ है। प्रशिक्षण के लिए भी कभी-कभी आदेश भी अनिवार्य हो जाता है।

(१०) नैतिकनियन्त्रण और नैतिक पहरेदारी— समाज को हमें शुद्ध रखना और शुद्धि का प्रशिक्षण देना हो तो प्रयोगमान्य चारों संगठनों की पूर्ववर्णित परम्परांकुशप्रणाली और नैतिक पहरेदारी से प्रत्येक संगठन को अभ्यस्त और प्रशिक्षित करना चाहिए। इसे अनुशासन भी कहते हैं। पर यह अनुशासन ऐसा नहीं है कि किसी को अन्यायपूर्ण लगे या सख्त लगे अथवा चुभे। यह तो प्रेमपूर्वक परस्परानुशासन है। अगर इस प्रकार के प्रेमपूर्वक अनुशासन को भी सहने और अपनी जीवनशुद्धि के लिए जरूरी मानकर स्वेच्छा से स्वीकारने को किसी संगठन का, कोई व्यक्ति या संस्था तैयार न हो तो जीवन का सर्वांगीण निर्माण और विकास कैसे हो सकेगा ? इसलिए नैतिक नियन्त्रण और नैतिक पहरेदारी भी प्रशिक्षण के मुख्य अंगों में माने गए हैं। अनुशासन का स्वीकार वास्तव में प्रशिक्षित व्यक्ति की निशानी है।

(११) स्वाध्याय—स्वाध्याय भी प्रशिक्षण के लिए अच्छा

[illegible] हैं तो उनका स्वागत और प्रचार [illegible], परन्तु बाद में प्रयोग
बारे में तथा समाज की गतिविधि के बारे में स्वाध्याय न होने से
[illegible] से घबरायेंगे, निरुत्साहित हो जायेंगे और प्रयोग से भागने की
[illegible] करेंगे; उन सेवकों को अपने कार्य, अपने ध्येय और अपनी
[illegible] शक्ति के बारे में शंका होने लगेगी। इसका मूल कारण है—
[illegible] ध्याय का अभाव। इसलिए उपनिषद् में कहा—'स्वाध्यायान्मा
[illegible] दः' (स्वाध्याय में प्रमाद मत करो)। स्वाध्याय का अर्थ-केवल
क पुस्तक पढ़ लेना और फेंक कर दूसरी उठा लेना ही नहीं है।
तु जो महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, जिस पर हमारे प्रयोग या कार्य का
ार है, उसे खूब मननपूर्वक पढ़ना, प्रश्नोत्तर करना, मनन-अनु
ण करना और दूसरे के सामने चर्चा करना चाहिये, तभी स्वाध्याय
क अर्थ पूरा होता है। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है, अपने जीवन
आसपास के समाज की, राष्ट्र की, संस्था की, एवं विश्व की गति-
। का अध्ययन करना, मनन करना और अपने कर्तव्य का निर्णय कर
। प्रतिक्रमण, आत्मनिरीक्षण, संध्या, नमाज, प्रार्थना, डायरीलेखन
द भी प्रकारान्तर से इसी में आ जाते हैं। इन दोनों प्रकार के
यायों से जीवन धर्म के शुद्ध संस्कारों से अभिभूत और अभ्यस्त
है। शुद्धधर्म उसको अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति में सुरक्षित रखने का
ास हो जाता है।

(१२) विविध कार्यक्रम——किसी भी समाज में नये मूल्य
ेत करने और पुराने गलत मूल्यों को हटाने या समाज के दिमाग
ास्मृत कराने के लिए नये–नये शुद्ध धर्मानुकूल कार्यक्रम होने
ए; जिनमें पुरानी प्रथा का शुभ व हितकर अंश सुरक्षित रहे
अशुभ, रूढ़ व युगबाह्य अहितकर अंश निकाल दिया जाय। वैसे
क्रम तो अनेक हो सकते हैं। और उन कार्यक्रमों से स

(जनसेवकों) को प्रशिक्षित करने, अनुबन्ध-विचारधारा समझाने और उन्हें वैचारिक-आचारिक दृष्टि से तैयार करने का सारा दायित्व भी क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग का होगा।

कार्यकर्ता इतने कुशल तैयार किये जांय कि वे स्वयं-स्फुरणा से, स्वयं की सूझबूझ से कार्यक्रमों का आयोजन कर सकें, मार्गदर्शक के बिना कहे ही वे स्वयं और उनके साथी कार्यकर्ता कार्य करने लग जांय। प्रयोगमान्य सभी संगठनों की कर्तृत्वशक्ति ऐसे कार्यकर्ताओं से बढ़ेगी। ऐसे कार्यकर्ता स्वयं प्रशिक्षित (तालीम पाये हुए) होंगे ही, अन्य कार्यकर्ताओं और जनता को प्रशिक्षित करने में वे मार्गदर्शक के सहायक बनेंगे। कहीं-कहीं वे भी प्रशिक्षण का काम संभालेंगे। कई कार्यक्रमों का सञ्चालन इतनी खूबी से करेंगे कि जनता को मार्गदर्शक से सम्पर्क किये बिना ही ऐसे जनसेवकों से प्रशिक्षण मिलता जायगा।

अतः प्रशिक्षण की मुख्य जिम्मेवारी क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग पर और गौणरूप से समाजरचना में प्रत्यक्ष भाग लेने वाले जनसेवकवर्ग पर रहेगी।

इस प्रकार शुद्ध धर्म की पूर्णता और समाज के सर्वांगीण निर्माण के लिए प्रयोग के चारों अंगों—संगठन, अनुबन्ध, शुद्धि और प्रशिक्षण की नितान्त आवश्यकता है और रहेगी।

के अहमदाबादजिलान्तर्गत भालनलकांठा-प्रदेश में इसके बीज 'विश्व-वात्सल्य' के रूप में बोए। वहाँ नलसरोवर में अनेक देशों के रंग-बिरंगे निर्दोष कल्लोल करने वाले पक्षियों, मछलियों तथा जलजन्तुओं का शिकार किया जाता था। उसमें शिकारी पार्टी के साथ वहाँ के निवासी ग्रामीण कोली-भाइयों को जबरदस्ती बेगार के रूप में मदद करनी पड़ती थी। यह करुण स्थिति देख कर पू० महाराजश्री का वात्सल्यमय हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने इस प्राणिवात्सल्य को साकाररूप देने के लिए वहाँ के दीन-हीन किसानों (कोली लोगों) को समझाया; शिकारबन्धुओं (गवर्नर तथा अन्य) को सन्मार्ग पर लाने का भरसक प्रयत्न किया। "शिकारी बुद्धि सन्मार्ग पर मुड़े और अहिंसा की पूर्ण विजय हो" इस प्रकार का सूत्र घर-घर गूंजने लगा। कोलीज्ञाति के लोगों ने ज्ञातिगत विधान करके शिकार स्वयं बन्द करने, शिकारी को सहायता न देने और नलसरोवर में शिकार सहन न करने का निश्चय किया। यह प्रयोग सफल हुआ। आज तो गुजरातसरकार ने उसे विदेशियों के लिए केवल दर्शनीय और आनन्ददायक स्थान बना दिया है। (२) इसके साथ ही मांसाहार-त्याग का आन्दोलन चलाया। वह भी एक सफल हुआ। (३) भालप्रदेश समुद्रतटवर्ती होने से वहां की जमीन खारी है। इसलिए वहाँ की जनता और पशुओं के लिए पेय जल का अपार कष्ट था। पिपासा से व्याकुल मनुष्य को अपनी जिन्दगी टिकाना और धर्मपालन करना कठिन हो जाता है। फिर अपने आश्रित पशुओं को प्यासे रखना भी मानवता का ह्रास है। फलतः शियालगाँव के श्रीजीवराज भाई की मृत्यु के पीछे उनके कुटुम्बीजन मृत्युभोज करना चाहते थे, उसके बदले इस प्राणिकरुणा से प्रेरित होकर मुनिश्री ने इस प्रदेश की पिपासाकुल जनता की प्यास बुझाने के कार्य को सच्चा कार्य (कारज) बताया। उन्होंने इस बात को ठीक समझ कर, आर्थिक सहायता देकर पू० महाराजश्री की

के अहमदाबादजिलान्तर्गत भालनलकांठा-प्रदेश में इसके बीज 'विश्व-वात्सल्य' के रूप में बोए। वहाँ नलसरोवर में अनेक देशों के रंग-बिरंगे निर्दोष कल्लोल करने वाले पक्षियों, मछलियों तथा जलजन्तुओं का शिकार किया जाता था। उसमें शिकारी पार्टी के साथ वहाँ के निवासी ग्रामीण कोली-भाइयों को जबरदस्ती बेगार के रूप में मदद करनी पड़ती थी। यह करुण स्थिति देख कर पू० महाराजश्री का वात्सल्यमय हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने इस प्राणिवात्सल्य को साकाररूप देने के लिए वहाँ के दीन-हीन किसानों (कोली लोगों) को समझाया; शिकारबन्धुओं (गवर्नर तथा अन्य) को सन्मार्ग पर लाने का भरसक प्रयत्न किया। "शिकारी बुद्धि सन्मार्ग पर मुड़े और अहिंसा की पूर्ण विजय हो" इस प्रकार का सूत्र घर-घर गूंजने लगा। कोलीज्ञाति के लोगों ने ज्ञातिगत विधान करके शिकार स्वयं बन्द करने, शिकारी को सहायता न देने और नलसरोवर में शिकार सहन न करने का निश्चय किया। यह प्रयोग सफल हुआ। आज तो गुजरातसरकार ने उसे विदेशियों के लिए केवल दर्शनीय और अनन्ददायक स्थान बना दिया है। (२) इसके साथ ही मांसाहार-त्याग का आन्दोलन चलाया। वह भी एक सफल हुआ। (३) भालप्रदेश समुद्रतटवर्ती होने से वहां की जमीन खारी है। इसलिए वहाँ की जनता और पशुओं के लिए पेय जल का अपार कष्ट था। पिपासा से व्याकुल मनुष्य को अपनी जिन्दगी टिकाना और धर्मपालन करना कठिन हो जाता है। फिर अपने आश्रित पशुओं को प्यासे रखना भी मानवता का ह्रास है। फलतः शियालगाँव के श्रीजीवराज भाई की मृत्यु के पीछे उनके कुटुम्बीजन मृत्युभोज करना चाहते थे, उसके बदले इस प्राणिकरुणा से प्रेरित होकर मुनिश्री ने इस प्रदेश की पिपासाकुल जनता की प्यास बुझाने के कार्य को सच्चा कार्य (कारज) बताया। उन्होंने इस बात को ठीक समझ कर, आर्थिक सहायता देकर पू० महाराजश्री की

प्रेरणा से 'जल-सहायक-समिति' बनाई गई और जहां-जहां जरूरत थी, वहां-वहां तालाब आदि बनवाए। बाद में तो बम्बईराज्य के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री मोरारजी देसाई (वर्तमान में केन्द्रीय उपप्रधानमंत्री व वित्त-मंत्री) ने प्रत्येक गांव में पेयजल पहुंचाने के लिए एक पाइपलाइनयोजना स्वीकृत की; जिसका ५० प्रतिशत खर्च केन्द्रीय सरकार ने देना मंजूर किया। अभी तक दो लाइनें बन चुकी हैं, तीसरी बन रही है। इस प्रकार पू० मुनिश्री की प्रेरणा से बनी हुई 'जलसहायक समिति' का पूर्णफल अब साकार हुआ है। (४) रोग से पीड़ित मानवों के प्रति दयार्द्र होकर 'साणंद' और 'शियाल' में 'विश्ववात्सल्य-औषधालय' चलाने की प्रेरणा दी। (५) भालप्रदेश में दुष्काल के समय पीड़ित ग्रामीणों—किसानों—के प्रति समाजवात्सल्य का धर्म अहमदाबाद, बम्बई आदि की जनता को समझा कर 'दुष्काल-कर्तव्य-समिति' के माध्यम से सहायता पहुँचाई। (६) नलकांठा में गरासदारों (राजपूतों) से जरूरत के समय थोड़ी-सी रकम लेने पर जिन्दगीभर बिना वेतन घर और खेत का सारा काम जबरदस्ती कराने की—गुलामी की—जिंदगी से हरिजनों (भंगी लोगों) को मुक्त करवाया।

नीति-न्याय के प्रवेश द्वारा ज्ञाति-संस्करण— (१) भाल-नलकांठाप्रदेश में मुनिश्री संतबालजी ने पूर्ववर्णित नीति के आचार के लिए सात कुव्यसनों का घर-घर घूमकर त्याग करवाया। शिकार, मांसाहार, शराब, चोरी, जुआ, व्यभिचार आदि के अतिरिक्त बीड़ी, तमाखू एवं चाय का भी त्याग कराया। जनता का उत्साह और श्रद्धा पराकाष्ठा पर थे। भाल और नलकांठा के लोगों ने सामूहिकरूप से नैतिक जीवन जीने का संकल्प किया। (२) नलकांठा की कोली जाति (पिछड़े कृषकवर्ग) में अनेक सामाजिक दूषण थे। किसी की परिणीत युवती का अपहरण करके दूसरा ले जाता। ...की प्रतिक्रिया के रूप में उस युवती का मूल पति उस गुनहगार के

गंजी जलाता। कहीं समधियों के आपस में मनमुटाव हो जाने पर कन्या का पिता विवाह या अन्य फुटकर खर्च की रकम वरपक्ष को देकर कन्या की इच्छा न होते हुए भी तलाक दिलवा देता। इस प्रकार कन्या अनेक स्थानों पर भटकती फिरती। दाम्पत्यजीवन का सुख उड़ जाता। ऐसे व्यक्तियों की संतति में भी बात-बात में भद्दी गालियों, विभत्सगीत, अश्लीलनृत्य, अफीम-तमाखू आदि नशीली-चीजों के सेवन के कुसंस्कार घुस गये थे। हत्या, लूटपाट, गरीबी और निरक्षरता पराकाष्ठा पर थी। मांस के लिए या पैसे कमाने के लिए गोपालकों के पशुओं की चोरी की जाती थी। जिस कन्या के पैसे ज्यादा लिये जाते उसे अच्छी समझी जाती थी। इस प्रकार के अनेक सामाजिक दूषणों को मिटाने के लिए और इस जाति में शुद्ध धर्म-नीति के संस्कार डालने के लिए धर्म-सम्प्रदाय या जाति के परिवर्तन कराए बगैर पू० मुनिश्री संतबालजी ने कमर कसी। उन्होंने इस प्रदेश की श्रद्धा अपने तप, त्याग, करुणा, और वात्सल्य (प्रेम) से जीत ली थी। इसलिए व्यक्तिगतश्रद्धा को समाज-संस्कारितारूपी भक्ति में परिणत कर दी। झांप, कमीजला, बगोदरा, शियाल, गूंदी, धोली आदि भालनलकांठा के ११२ गांवों की समस्त कोली जाति का माणकोल ग्राम में एक बार ही नहीं, दो-तीन-चार सम्मेलन बुलाकर और घर-घर घूम कर उन्हें नीति और धर्म की प्रेरणा दी और उक्त सामाजिक दूषणों को दूर करने का संकल्प मुखियों को कराया। इस प्रकार समग्र ज्ञाति का 'लोकपाल' पटेल नामकरण के साथ संस्करण किया।

मूल्यपरिवर्तन और प्रयोग के लिए कार्यकर्ताओं का स्रोत— धर्ममय समाजरचना के प्रयोग की विचार-आचार-धारा समझा कर कार्यकर्ता तैयार करने के हेतु पू० मुनिश्री ने वकराणा, झांप, धोली और अरणेज आदि में आठ-आठ दिन और साणंद में चार मास तक के 'विश्ववात्सल्य चिन्तक-वर्ग' नामक शिविरों एवं

ारा) बंधे हुए भावों में अनाज बेच कर बदले में आवश्यक वस्तुएँ ोरबाजारी से लेनी पड़तीं। खेती पोसाती न थी। ऐसी परिस्थिति में 'या तो सरकार को अनाज के भाव बढ़ाने चाहिये या कंट्रोल उठा देना ाहिये।" इस प्रश्न पर विचार करने के लिए गुजरात के रचनात्मक कार्यकर्ता एकत्रित हुए। साणंद में मुनिश्री के सान्निध्य में यह मीटिंग हुई। खाने वाले (उपभोक्ता) और खेती करने वाले दोनों को जो दर पोसाए वही दर निश्चित होना चाहिये। पू० महात्मा गाँधीजी अंकुश उठवाने के लिए सरकार पर जोर डाल रहे थे। फलतः दिसम्बर १६४७ में अंकुश उठ गये। परन्तु सबको यह अंदेशा था कि अंकुश उठते ही भाव आसमान में पहुँच जायेंगे। इसलिए पू० मुनिश्री संतबालजी म० और रविशंकर महाराज ने किसानों को प्रेरित किया कि—"सरकारी अंकुश भले ही उठ गये हों, स्वैच्छिक नैतिक अंकुश रहने ही चाहिये, जो खाने और खेती करने वाले दोनों के हित में हों।" किसानमंडल के सदस्यों ने स्वेच्छा से नैतिक भावनियमन की बात स्वीकृत की। वचनबद्ध हुए। फलतः १०) रु० मन के नैतिक बंधे दर से १७ हजार मन चावल मंडल ने गाँधीहाट, अहमदाबाद की सहायता से किसानों से खरीदे। लागत दर से ही खानेवालों को देने का निश्चय हुआ। बाद में भाव बढ़ने लगे। बरसात के आसार नहीं दिखाई दे रहे थे। किसानों ने बोने के लिए अनाज-संग्रह करने का सोचा। पांचेक हजार मन उपभोक्ताओं को दिये गये थे, बाकी के १२ हजार मन चावल संग्रह किये गये। सचमुच दुष्काल पड़ा। दूसरे साल बोने के लिए चावल के दाम २५) रु० से ३०) रु० मन तक हो गये। कई लोग कहने लगे—"इतना अधिक मुनाफा मिलता है, चावल बेच दो। ये मंडल वाले नीति-नीति चिल्ला कर नाहक घाटे में डाल देंगे।" पर नीतिनिष्ठ किसानों ने कहा—हमने तो एक बार जो वचन दे दिया,

संगठनों के सदस्यों के अथवा अन्य जनता के आपसी झगड़े कोर्ट-कचहरियों में न ले जाकर निष्पक्ष पंचों के द्वारा दिया गया फैसला मान्य करने की सुन्दर प्रथा प्रचलित की गई है। हजारों झगड़ों के अलावा अनिष्टों के नीति-धर्म-दृष्टि से निराकरण भी इस प्रथा द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न हुए हैं। 'गामडानुं हृदय' और 'शुद्धिप्रयोग की पूर्वप्रभा' में कुछ खास प्रसंग दिये गये हैं। उनसे पाठकों को विश्वास हो जायगा।

शुद्धिप्रयोगों द्वारा शुद्ध न्याय, सामाजिक अनिष्टशुद्धि का वातावरण—अनिष्ट, (फिर चाहे वह किसी भी क्षेत्र का हो) की व्यवस्थित ढंग से जांचपड़ताल के बाद अनिष्टकार के हृदय में सोये हुए भगवान को जगाने या नैतिक-सामाजिक दबाव द्वारा अपराधी को स्वयं बदलने के लिए बाध्य करने का यह अचूक तपत्यागात्मक सामूहिक अहिंसक-प्रयोग इस प्रयोगक्षेत्र में सफल हुआ है। (१) चोरी करने वाले जबरदस्त व्यक्ति के खिलाफ सच कहने को जहाँ गाँव में कोई मुंह नहीं खोल सकता था, वहाँ शुद्धिप्रयोग से गाँव में भी नैतिक हिम्मत आई। गुनहगार ने भी अपनी भूल का जाहिर में इकरार किया और अपराध की क्षतिपूर्ति भी की। (२) एक गाँव के किसानों पर मन्दिर के अधिकारियों द्वारा वर्षों से अन्याय चलाया जा रहा था, किन्तु किसानमंडल द्वारा उसके लिए लगभग ११२ दिन तक तपत्यागमय अहिंसक प्रतीकारात्मक शुद्धिप्रयोग किये जाने पर न्याय के सामने अन्यायीपक्ष को झुकना पड़ा। (३) जोतदारों के पक्ष में सरकार द्वारा अन्याययुक्त कानून बनाये जाने के खिलाफ प्रदेश की सारी किसान-जनता ने तपत्याग-वीर बन कर ८ महीने तक शुद्धिप्रयोग किया। उसका प्रभाव सरकार पर पड़ा और कानून की कुछ धाराओं संशोधन किया। (४) एक निर्दोष बहन की उसके जेठ द्वारा हत्या

करने के बाद सारा मामला दबा दिया गया। किसानमंडल के पास न्यायप्राप्ति के लिए उस मृतक बहन के पिता की अर्जी आई। मंडल ने पक्की जांचपड़ताल के बाद अपराधी को समझाने के अनेकों प्रयत्न किये पर व्यर्थ! आखिर १८ दिन के शुद्धिप्रयोग के बाद अपराधी को अपनी ज्ञाति द्वारा प्रायश्चित्त कबूल करना पड़ा। उसकी ज्ञाति के सरपंच की ओर से मंडल के तत्त्वावधान में सामाजिक फैसला जाहिर में सुनाया गया। (५) प्राथमिक शिक्षा में प्रान्तीय और राष्ट्रीय भाषा के बदले अंग्रेजीभाषा को मुख्यता दिये जाने के खिलाफ साबरमती के सत्याग्रह आश्रम से शुद्धिप्रयोग चला। विभिन्नकेन्द्रों में गुजरात के शिक्षाशास्त्रियों के शुद्धिप्रयोग में भाग लिया। फलतः द्विभाषी राज्य के टूट जाने के बाद नवगुजरातसरकार ने मांग स्वीकार की और कानून में संशोधन किया। इस प्रकार भालनलकांठाप्रदेश में ही नहीं, सारे गुजरात में और गुजरात के बाहर भी म० गांधीजी के अवसान के बाद सत्याग्रह इस नवसंस्करण—शुद्धिप्रयोग ने अपना चमत्कार दिखाया है। संत विनोबाजी भी जब इस प्रयोग के केन्द्र 'गूंदी' में पधारे थे, तब बातचीत के सिलसिले में उन्होंने शुद्धिप्रयोग की हृदय से प्रशंसा की थी। और शुद्धिप्रयोग में कानूनभंग न हो, इस बात पर [illegible] ने भी स्वीकार किया है। [illegible] [illegible]

ागुजरात-जनता-परिषद्' ने जगह-जगह अशान्ति पैदा की, दंगे
ये, जनता के जानमाल को क्षति पहुँचाई। विद्यार्थियों को राज-
तिक हथकंडों में घसीटा। पुलिस को जनता के जानमाल की रक्षा
लिए तोड़फोड़ करने वालों पर अश्रु गैस, व गोलीवार करना पड़ा।
पर से महागु०ज०प० ने जनता को भड़काया, उस समय अहमदा-
द में शान्ति स्थापित करने, लोगों को वास्तविकता समझाने और
कर्तव्यमूढ़ बने हुए कॉंग्रेसीजनों को नैतिक साहस दिलाने के लिए
प्रयोगक्षेत्र को ग्रामजनों की शान्तिसहायक-टुकड़ियाँ कई दिनों
प्रतिदिन आतीं। शहर में शान्ति से 'गुजरातीमहाराष्ट्री भाई-भाई'
दि प्रेरक नारे लगाती हुई घूम कर वह कांग्रेसहाउस में जमा होती
र प्रासंगिक वक्तव्य के बाद लौट जाती। उस समय कई ग्रामजनों,
बहनों पर धूल उछाली गई, उनके वस्त्र खींचे गए, गालियों व
क्षेपों की बौछार हुई किन्तु उन्होंने इसे शान्ति से सहा। पुलिस
आश्रय न लिया। उस समय के कांग्रेस अध्यक्ष श्री ढेबरभाई
पने पत्र में लिखते हैं—

"गांवों की टुकड़ियों ने सारे देश का ध्यान खींचा है। अथवा
ं कहूँ कि उन पर हुए, खासकर बहनों पर हुए, निर्लज्ज प्रहारों ने
ारे देश का ध्यान खींचा है।......" भू०पू० वित्तमंत्री श्री मोरारजी
ाई तार में लिखते हैं—"Congratulate Village-batches
n their Courage & Sacrifice for Right Cause."

यह था शान्तिसहायक टुकड़ियों का अभूतपूर्व कार्य! इससे लोक-
त्र को जो खतरा था, वह भी दूर हुआ।

कांग्रेस के साथ राजनैतिकक्षेत्र में जनसंगठनों का

अनुबन्ध— संगठनों के बाद प्रयोग का मुख्य अंग अनुबन्ध है।
ौर उसमें मुख्य बात है प्रयोगमान्य चारों संगठनों का टूटा हुआ था

[illegible] कांग्रेस ने [illegible] जोड़ना नहीं [illegible] यानी यही है। लेकिन पू० मुनिश्री (प्रयोगकार) [illegible] करने में समाज और राष्ट्र का और उनसे अधिक [illegible] का हित समझते थे। इसलिए कांग्रेस के अग्रगण्यजनों को बारबार यही बात समझाने का प्रयत्न करते रहे। कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री ढेबरभाई ने और केन्द्रीय वित्तमन्त्री तथा उपप्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने कई बार पत्रों में इस बात की चर्चा की है। जैसे इन्टक के साथ कांग्रेस का राजनैतिकक्षेत्र में अनुबन्ध कांग्रेस ने स्वीकृत कर लिया और यह भी मान लिया कि जिस मजदूरक्षेत्र में इन्टक अपना उम्मीदवार खड़ा करना चाहे, वहां कांग्रेस न करे, यानी कांग्रेस को इन्टक के साथ पूछताछ कर, मिलजुल कर उम्मीदवारों का चयन करना चाहिए, वैसे ही सन् १९५२ और १९५७ के चुनावों में कांग्रेस ने किसान-मंडल (जनसंगठन) के साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार किया। इसमें पू० मुनिश्री की प्रेरणा और मार्गदर्शन भी था। हालांकि अनुबन्ध की बात को कांग्रेस ने वैधानिक रूप नहीं दिया, परन्तु कांग्रेस के स्थानीय एकहत्थी सत्ता टिकाये रखने वालों के सिवाय इसे केवल, उच्चस्तरीय कांग्रेसीजनों ने आंशिकरूप में मानी है। इसीलिए प्रेममय संघर्ष चलता रहता है।

सामाजिक-आर्थिक-क्षेत्र में ग्रामसंगठन की स्वतन्त्रता की सुरक्षा— इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रयोग का आज तक का इतिहास साक्षी है। सहकारीप्रवृत्तियां और ग्रामपंचायत ये दो लोकशक्ति के विकास के क्षेत्र हैं; इनमें जनसंगठनों की स्वतन्त्र ग्रामलक्षी नीति से काम चलना चाहिए। और यह तभी हो सकता है,

जबकि कांग्रेस इन दोनों के चुनावों में संस्थागत-रूप से अपना उम्मीदवार खड़ा न करे, अपितु ग्रामसंगठन के कांग्रेसीजनों को ही खड़ा करने का मौका दे। तभी राज्यशक्ति का वर्चस्व लोकशक्ति पर से हट सकता है। और ग्रामराज्य स्थापित हो सकता है। यह बात वर्षों से पू० मुनिश्री कांग्रेसीलोगों को समझाते रहे। फलतः उस समय के कांग्रेस अध्यक्ष श्रीढेबरभाई और महामन्त्री श्रीमन्नारायण-जी ने गांवों को कांग्रेस में महत्त्व देने एवं रचनात्मक कार्यकर्ताओं के स्वयंनियुक्त प्रतिनिधित्व के लिए मण्डलसमितियों का मार्ग प्रस्तुत किया। इससे आगे बढ़कर सन् १९५७ में कांग्रेस के उस समय के महामन्त्री श्रीमन्नारायण ने भालनलकांठा में चल रहे प्रयोग का भलीभांति अवलोकन किया और उससे प्रभावित होकर 'आर्थिक समीक्षा' में प्रयोग के बारे में अपना अच्छा अभिप्राय लिखा। उसके बाद उन्होंने 'कांग्रेस पार्लियामेंटरी बोर्ड' की मीटिंग में इस आशय का प्रस्ताव पारित करवाकर सभी प्रदेशकांग्रेस कमेटियों पर परिपत्र भी भेज दिया। परिपत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है—

परिपत्र नं० ३४ — अ० भा० कांग्रेस कमेटी
संदर्भ नं० पी० २६।२३६०५ — ७ जतरमंतर रोड, नई दिल्ली
प्रिय मित्रवर, — २४ अक्तूबर १९५७

कांग्रेस की वैधानिक अनुकूलताओं और वर्तमान में संशोधित धाराओं के आधार पर कांग्रेसकमीटियों में अलग-अलग स्तर पर कई सदस्यों को अपने प्रदेश में सहकारी संस्थाओं का संचालन करने वाली ...त्रिक एवं सांस्कृतिक

डालने के लिए बंगाल में धर्म के नाम से देवी-देवों के आगे होने वाली पशुबलि बन्द कराने हेतु 'पशुबलि निषेधक समिति' सुचारुरूप से चल रही है।

भालनलकाँठाप्रयोग की तरह अन्य प्रदेशों में भी प्रयोग—धर्ममय समाजरचना का प्रयोग सर्वप्रथम भालनलकांठा की भूमि में हुआ। इसका प्रभाव और प्रकाश दूर-दूर तक फैला। फलतः बनासकांठा, सौराष्ट्र (शेत्रुंजीकांठा), कच्छ और सूरतजिले में भी इस प्रकार के प्रयोग और गोपालकों के लिए संस्कारकेन्द्र व छात्रालय चल रहे हैं। अब मेरठ जिले और अम्बाला जिले में भी यह प्रयोग शुरू होने जा रहा है।

इस प्रकार प्रयोग की सर्वांगीण सफलता और सिद्धियां बहुत संक्षेप में प्रस्तुत की हैं। इस पर से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि यह प्रयोग काल्पनिक ही नहीं, अपितु व्यापक, व्यवस्थित, पद्धतिबद्ध और अनुभूत है।

प्रयोग का भावी चित्र

इस प्रकार धर्ममय समाजरचना का प्रयोग जो कि स्वराज्य से पहले प्रारम्भ हुआ है, अब अपने २० वर्ष लगभग पूरे कर चुका है। इस काल में इस प्रयोग ने समय-समय पर अनेक राष्ट्रीय आफतों, अन्य प्रदेशों में बाढ़, भूकम्प, दंगों आदि के समय भरसक सहयोग दिया है। प्रयोग के सामने यों तो सारे विश्व में धर्मदृष्टि से मानवनिर्माण का स्पष्ट चित्र है; परन्तु उसमें अनेक लोगों और संगठनों का सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। उनका यह मानना है कि कम से कम भारत-भर में इस प्रयोग का सिलसिला जम जाए तो अन्य राष्ट्रों पर भी इस का प्रभाव शीघ्र पड़े बिना न रहेगा। कम से कम अफ्रीका और अन्य

एशियाई राष्ट्रों पर तो पड़ेगा ही। फिर धीरे-धीरे विश्वसरकार (इसी दृष्टि से) बनाने की कल्पना भी साकार हो सकेगी।

इससे समग्र मानवसमाज का धर्मदृष्टि से निर्माण होने से सारे समाज में परस्पर नैतिकनियंत्रण रहेगा, सभी अंग अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करने लगेंगे; समाज में अन्याय, अनीति व अनिष्टों का मुंह काला होगा; क्वचित् ये होंगे तो भी समाज में इनकी प्रतिष्ठा नहीं होगी। समग्रसमाज में धर्म-सहिष्णुता पनपेगी, जातिकौमवाद या सम्प्रदायवाद कम हो जायगा। इससे सारे समाज में सुखशान्ति और सुव्यवस्था पनप सकेगी। समाज का कोई भी अंग, यहाँ तक कि राज्य भी, और कोई भी क्षेत्र धर्मनीति के स्पर्श से अछूता नहीं रहेगा। धर्म की साधना सहजभाव से समाज के सभी अंगोपांगों में चलेगी। सारा समाज अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति या पुरुषार्थ में शुद्धधर्म को केन्द्र में रख कर चलेगा। जिससे वह वास्तविक सुख का साक्षात्कार कर सकेगा। इस प्रकार सारे समाज का सर्वांगीण निर्माण होने से समाज की सभी इकाइयाँ अपने-अपने कर्तव्य में रत रहेंगी। साधुसंस्था अपने विश्वकुटुम्बित्व का कर्तव्य और विश्व के मातापिता बनने का उत्तरदायित्व प्रस्तुत-प्रयोग के माध्यम से पूरा कर सकेगी। जनसेवक-सेविका, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी या मर्यादितब्रह्मचारी साधक-साधिका प्रयोग के माध्यम से समाज की वास्तविक सेवा कर सकेंगे और व्रतबद्धता धर्मपालन आदि के द्वारा आत्मसाधना भी कर सकेंगे। उनका व्रतपालन सार्थक होगा। संगठित जनता नीतिनिष्ठ धर्मलक्षी जीवन बना कर स्वधर्मपालन के द्वारा समाज में सुखशान्ति बनाये रख सकेगी, जनता में बढ़ी हुई नैतिकशक्ति अहिंसा, सत्य, नीति, न्याय के सामूहिक प्रयोग द्वारा समाज अहिंसक क्रान्ति कर सकेगी। साथ ही राज्यसंस्था (कांग्रेस) भी न्यायनिष्ठ नीतिलक्षी होने से अपनी सीमा में अहिंसासत्यादि का पालन करेगी, भारतराष्ट्र के माध्यम से

[illegible] ... और ... में भी इस प्रकार ... [illegible] ... जा रहा है।

इस प्रकार प्रयोग की सर्वांगीण सफलता और सिद्धियां बहुत संक्षेप में प्रस्तुत की हैं। इस पर से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि यह प्रयोग काल्पनिक ही नहीं, अपितु व्यापक, व्यवस्थित, पद्धतिसर और अनुभूत है।

प्रयोग का भावी चित्र

इस प्रकार धर्ममय समाजरचना का प्रयोग जो कि स्वराज्य से पहले प्रारम्भ हुआ है, अब अपने २० वर्ष लगभग पूरे कर चुका है। इस काल में इस प्रयोग ने समय-समय पर अनेक राष्ट्रीय आफतों, अन्य प्रदेशों में बाढ़, भूकम्प, दंगों आदि के समय भरसक सहयोग दिया है। प्रयोग के सामने यों तो सारे विश्व में धर्मदृष्टि से मानवनिर्माण का स्पष्ट चित्र है; परन्तु उसमें अनेक लोगों और संगठनों का सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। उसका यह मानना है कि कम से कम भारत-भर में इस प्रयोग का विधिवत् जाल बिछ जाय तो अन्य राष्ट्रों पर भी इस का प्रभाव शीघ्र पड़े बिना न रहेगा। कम से कम अफ्रीका और अन्य-

एशियाई राष्ट्रों पर तो पड़ेगा ही। फिर धीरे-धीरे विश्वसरकार (इसी दृष्टि से) बनाने की कल्पना भी साकार हो सकेगी।

इससे समग्र मानवसमाज का धर्मदृष्टि से निर्माण होने से सारे समाज में परस्पर नैतिकनियंत्रण रहेगा, सभी अंग अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करने लगेंगे; समाज में अन्याय, अनीति व अनिष्टों का मुंह काला होगा; क्वचित् ये होंगे तो भी समाज में इनकी प्रतिष्ठा नहीं होगी। समग्रसमाज में धर्म-सहिष्णुता पनपेगी, जातिकौमवाद या सम्प्रदायवाद कम हो जायगा। इससे सारे समाज में सुखशान्ति और सुव्यवस्था पनप सकेगी। समाज का कोई भी अंग, यहाँ तक कि राज्य भी, और कोई भी क्षेत्र धर्मनीति के स्पर्श से अछूता नहीं रहेगा। धर्म की साधना सहजभाव से समाज के सभी अंगोपांगों में चलेगी। सारा समाज अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति या पुरुषार्थ में शुद्धधर्म को केन्द्र में रख कर चलेगा। जिससे वह वास्तविक सुख का साक्षात्कार कर सकेगा। इस प्रकार सारे समाज का सर्वांगीण निर्माण होने से समाज की सभी इकाइयाँ अपने-अपने कर्तव्य में रत रहेंगी। साधुसंस्था अपने विश्वकुटुम्बित्व का कर्तव्य और विश्व के मातापिता बनने का उत्तरदायित्व प्रस्तुत-प्रयोग के माध्यम से पूरा कर सकेगी। जनसेवक-सेविका, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी या मर्यादितब्रह्मचारी साधक-साधिका प्रयोग के माध्यम से समाज की वास्तविक सेवा कर सकेंगे और व्रतबद्धता धर्मपालन आदि के द्वारा आत्मसाधना भी कर सकेंगे। उनका व्रतपालन सार्थक होगा। संगठित जनता नीतिनिष्ठ धर्मलक्षी जीवन बना कर स्वधर्मपालन के द्वारा समाज में सुखशान्ति बनाये रख सकेगी, जनता में बढ़ी हुई नैतिकशक्ति अहिंसा, सत्य, नीति, न्याय के सामूहिक प्रयोग द्वारा समाज अहिंसक क्रान्ति कर सकेगी। साथ ही राज्यसंस्था (कांग्रेस) भी न्यायनिष्ठ नीतिलक्षी होने से अपनी

। अहिंसासत्यादि का पालन करेगी, भारत

डालने के लिए बंगाल में धर्म के नाम से देवी-देवों के
आगे पशुबलि बन्द कराने हेतु 'पशुबलि निषेधक समिति'
से चल रही है।

भालनलकांठाप्रयोग की तरह अन्य प्रदेशों में भी !

धर्ममय समाजरचना का प्रयोग सर्वप्रथम भालनलकांठा की
हुआ। इसका प्रभाव और प्रकाश दूर-दूर तक फैला। फलत
कांठा, सौराष्ट्र (शेत्रुंजीकांठा), कच्छ और सूरतजिले में भी इ
के प्रयोग और गोपालकों के लिए संस्कारकेन्द्र व छात्रालय
हैं। अब मेरठ जिले और अम्बाला जिले में भी यह प्रयोग शु
जा रहा है।

इस प्रकार प्रयोग की सर्वांगीण सफलता और सिद्धिय
संक्षेप में प्रस्तुत की है। इस पर से अन्दाजा लगाया जा स
कि यह प्रयोग काल्पनिक ही नहीं, अपितु व्यापक, व्यवस्थित,
बद्ध और अनुभूत है।

प्रयोग का भावी चित्र

इस प्रकार धर्ममय समाजरचना का प्रयोग जो कि स्वराज्य से
प्रारम्भ हुआ है, अब अपने २० वर्ष लगभग पूरे कर चुका है
काल में इस प्रयोग ने समय-समय पर अनेक राष्ट्रीय आफतों,
प्रदेशों में बाढ़, भूकम्प, दंगों आदि के समय भरसक सहयोग
है। प्रयोग के सामने यों तो सारे विश्व में धर्मदृष्टि से मानवनि
का स्पष्ट चित्र है; परन्तु उसमें अनेक लोगों और संगठनों का स
सहयोग अपेक्षित है। उसका यह मानना है कि कम से कम भारत
में इस प्रयोग का विधिवत् जाल बिछ जाय तो अन्य राष्ट्रों पर भी
का प्रभाव शीघ्र पड़े बिना न रहेगा। कम से कम अफ्रीका और अ

शियाई राष्ट्रों पर तो पड़ेगा ही। फिर धीरे-धीरे विश्वसरकार इसी दृष्टि से) बनाने की कल्पना भी साकार हो सकेगी।

इससे समग्र मानवसमाज का धर्मदृष्टि से निर्माण होने से सारे समाज में परस्पर नैतिकनियंत्रण रहेगा, सभी अंग अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करने लगेंगे; समाज में अन्याय, अनीति व अनिष्टों का मुंह काला होगा; क्वचित् ये होंगे तो भी समाज में इनकी प्रतिष्ठा नहीं होगी। समग्रसमाज में धर्म-सहिष्णुता पनपेगी, जातिकौमवाद या सम्प्रदायवाद कम हो जायगा। इससे सारे समाज में सुखशान्ति और सुव्यवस्था पनप सकेगी। समाज का कोई भी अंग, यहाँ तक कि राज्य भी, और कोई भी क्षेत्र धर्मनीति के स्पर्श से अछूता नहीं रहेगा। धर्म की साधना सहजभाव से समाज के सभी अंगोपांगों में चलेगी। सारा समाज अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति या पुरुषार्थ में शुद्धधर्म को केन्द्र में रख कर चलेगा। जिससे वह वास्तविक सुख का साक्षात्कार कर सकेगा। इस प्रकार सारे समाज का सर्वांगीण निर्माण होने से समाज की सभी इकाइयाँ अपने-अपने कर्तव्य में रत रहेंगी। साधुसंस्था अपने विश्वकुटुम्बित्व का कर्तव्य और विश्व के मातापिता बनने का उत्तरदायित्व प्रस्तुत-प्रयोग के माध्यम से पूरा कर सकेगी। जनसेवक-सेविका, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी या मर्यादितब्रह्मचारी साधक-साधिका प्रयोग के माध्यम से समाज की वास्तविक सेवा कर सकेंगे और व्रतबद्धता धर्मपालन आदि के द्वारा आत्मसाधना भी कर सकेंगे। उनका व्रतपालन सार्थक होगा। संगठित जनता नीतिनिष्ठ धर्मलक्षी जीवन बना कर स्वधर्मपालन के द्वारा समाज में सुखशान्ति बनाये रख सकेगी, जनता में बढ़ी हुई नैतिकशक्ति अहिंसा, सत्य, नीति, न्याय के सामूहिक प्रयोग द्वारा समाज अहिंसक क्रान्ति कर सकेगी। साथ ही राज्यसंस्था (कांग्रेस) भी न्यायनिष्ठ नीतिलक्षी होने से अपनी नीति में अहिंसासत्यादि का पालन करेगी, भारतराष्ट्र के माध्यम से

डालने के लिए बंगाल में धर्म के नाम से देवी-देवों के आगे हो वाली पशुबलि बन्द कराने हेतु 'पशुबलि निषेधक समिति' सुचारुरू से चल रही है।

भालनलकाँठाप्रयोग की तरह अन्य प्रदेशों में भी प्रयोग-- धर्ममय समाजरचना का प्रयोग सर्वप्रथम भालनलकांठा की भूमि मे हुआ। इसका प्रभाव और प्रकाश दूर-दूर तक फैला। फलतः बनास कांठा, सौराष्ट्र (शेत्रुंजीकांठा), कच्छ और सूरतजिले में भी इस प्रकार के प्रयोग और गोपालकों के लिए संस्कारकेन्द्र व छात्रालय चल रहे हैं। अब मेरठ जिले और अम्बाला जिले में भी यह प्रयोग शुरू होने जा रहा है।

इस प्रकार प्रयोग की सर्वांगीण सफलता और सिद्धियां बहुत संक्षेप में प्रस्तुत की हैं। इस पर से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि यह प्रयोग काल्पनिक ही नहीं, अपितु व्यापक, व्यवस्थित, पद्धति-बद्ध और अनुभूत है।

प्रयोग का भावी चित्र

इस प्रकार धर्ममय समाजरचना का प्रयोग जो कि स्वराज्य से पहले प्रारम्भ हुआ है, अब अपने २० वर्ष लगभग पूरे कर चुका है। इस काल में इस प्रयोग ने समय-समय पर अनेक राष्ट्रीय आफतों, अन्य प्रदेशों में बाढ़, भूकम्प, दंगों आदि के समय भरसक सहयोग दिया है। प्रयोग के सामने यों तो सारे विश्व में धर्मदृष्टि से मानवनिर्माण का स्पष्ट चित्र है; परन्तु उसमें अनेक लोगों और संगठनों का सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। उसका यह मानना है कि कम से कम भारत-भर में इस प्रयोग का विधिवत् जाल बिछ जाय तो अन्य राष्ट्रों पर भी इस का प्रभाव शीघ्र पड़े बिना न रहेगा। कम से कम अफ्रीका और अन्य-

एशियाई राष्ट्रों पर तो पड़ेगा ही। फिर धीरे-धीरे विश्वसरकार (इसी दृष्टि से) बनाने की कल्पना भी साकार हो सकेगी।

इससे समग्र मानवसमाज का धर्मदृष्टि से निर्माण होने से सारे समाज में परस्पर नैतिकनियंत्रण रहेगा, सभी अंग अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करने लगेंगे; समाज में अन्याय, अनीति व अनिष्टों का मुंह काला होगा; क्वचित् ये होंगे तो भी समाज में इनकी प्रतिष्ठा नहीं होगी। समग्रसमाज में धर्म-सहिष्णुता पनपेगी, जातिकौमवाद या सम्प्रदायवाद कम हो जायगा। इससे सारे समाज में सुव्यवस्थित और सुव्यवस्था पनप सकेगी। समाज का कोई भी अंग, यहाँ तक कि राज्य भी, और कोई भी क्षेत्र धर्मनीति के स्पर्श से अछूता नहीं रहेगा। धर्म की साधना सहजभाव से समाज के सभी अंगोपांगों में चलेगी। सारा समाज अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति या पुरुषार्थ में शुद्धधर्म को केन्द्र में रख कर चलेगा। जिससे वह वास्तविक सुख का साक्षात्कार कर सकेगा। इस प्रकार सारे समाज का सर्वांगीण निर्माण होने से समाज की सभी इकाइयाँ अपने-अपने कर्तव्य में रत रहेंगी। साधुसंस्था अपने विश्वकुटुम्बित्व का कर्तव्य और विश्व के मातापिता बनने का उत्तरदायित्व प्रस्तुत-प्रयोग के माध्यम से पूरा कर सकेगी। जनसेवक-सेविका, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी या मर्यादितब्रह्मचारी साधक-साधिका प्रयोग के माध्यम से समाज की वास्तविक सेवा कर सकेंगे और व्रतबद्धता धर्मपालन आदि के द्वारा आत्मसाधना भी कर सकेंगे। उनका व्रतपालन सार्थक होगा। संगठित जनता नीतिनिष्ठ धर्मलक्षी जीवन बना कर स्वधर्मपालन के द्वारा समाज में सुखशान्ति बनाये रख सकेगी, जनता में बढ़ी हुई नैतिकशक्ति अहिंसा, सत्य, नीति, न्याय के सामूहिक प्रयोग द्वारा समाज अहिंसक क्रान्ति कर सकेगी। साथ ही राज्यसंस्था (कांग्रेस) भी न्यायनिष्ठ नीतिलक्षी होने से अपनी सीमा में अहिंसासत्यादि का पालन करेगी, भारतराष्ट्र के माध्यम से

[illegible] बनेगी। [illegible]
इस प्रकार मानवसमाज में [illegible] होगा, [illegible]
में निष्क्रीकरण भी संभव होगा। मानवसमाज के अहिंसक और
त्यागी बनने से मानवेतर प्राणी भी [illegible] पाएँगे, सुख पाएँगे। मानव
के सम्पर्क में आने से कुत्ता, गाय, बैल आदि पशुओं की तरह अन्य
क्रूर प्राणी भी पालतू व अहिंसक बन सकेंगे।

और तब सारी सृष्टि अमनचैन से रहेगी और आनन्दकन्द भगवान् या अव्यक्तशक्ति भगवती मैया की कृपा का पूर्णभाजन बनेगी। सारी सृष्टि वात्सल्यमयी बनेगी वात्सल्य के आदानप्रदान का आनन्द लूटेगी।

प्रयोग-प्रेमियों से !

इसलिए जो व्यक्ति–भाई या बहन, जनसेवक या जनसेविका, साधु–संन्यासी या साध्वी सारी सृष्टि को वात्सल्यमयी, धर्ममयी देखना चाहते हों; सारे समाज को शुद्धधर्म से ओतप्रोत, सुव्यवस्थित और सुखशान्तिमय देखना चाहते हों और जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म और नीति व्याप्त देखना चाहते हों, उनसे मेरा नम्र अनुरोध है कि वे अपनी–अपनी भूमिका में रहते हुए इस प्रयोग में सक्रिय सहयोग दें; इस प्रयोग को भारत के प्रत्येक प्रान्त और जिले में क्रियान्वित करने और गति-प्रगति-प्रदान करने में अपना अमूल्य योगदान दें। जिन्हें यह लगता हो कि समाज की वर्तमान परिस्थिति का कायापलट करना है; जिनके हृदय में आज की अर्थ—काम-प्रधान बनी हुई समाजरचना को बदलने की तमन्ना हो वे आगे आएँ; इस प्रयोगपद्धति का बारीकी से अध्ययन करें और वर्तमान असंतोपजनक परिस्थिति को बदलने के [illegible] टूट पड़ें।

परन्तु कई विचारक यह देख कर प्रयोग में संलग्न होने से हिच-किचाते हैं कि एक ओर वर्तमान साधुसंस्था में से अधिकांश साधु-साध्वी-संन्यासी संकुचितदृष्टि वाले, साम्प्रदायिकता से घिरे, अनुत्साही व सीमितक्षेत्रवाले हैं; दूसरी ओर अधिकांश जनसेवकों की दृष्टि भी संकीर्ण, संकुचितस्वार्थ व स्पष्ट नहीं है; वे साधुवर्ग से घृणा करते हैं, उनसे दूर ही रहते हैं। फिर वैज्ञानिकरूप से भी सैद्धान्तिक रूप से इस प्रयोग में जुड़ने वाले भी विरले ही होते हैं। दूसरी ओर गांवों और नगरों में कुछ साधुओं में खराब आदतों के कारण लोगों के मन में साधुओं के प्रति अश्रद्धा और घृणा पैदा हो गई है। साथ ही वे निःस्पृह जनसेवकों के प्रति भी आशंकित हैं, उन्हें वे सरकारी कार्यकर्ता समझते हैं। इसलिए प्रारम्भ में एकदम प्रयोगसम्मत चारों सुसंगठन शीघ्रपूर्वक न जुड़ सकें तो निराश होने की जरूरत नहीं।

अगर वे साधु-संन्यासी-साध्वीवर्ग के हैं तो सर्वप्रथम वे गांवों में घूम-घूम कर ग्रामसंगठन की भूमिका तैयार करने का प्रयास करें। इसी दौरान उन्हें कुछ प्रयोग-जिज्ञासु कार्यकर्ता भी मिल जाएंगे। कार्यकर्ता तो हैं ही। सिर्फ उन्हें नया मोड़ देकर शुद्ध व परिष्कृत बनाना है। इस प्रकार चारों संगठनों का अनुबन्ध और परस्पर सहयोग होने से समग्रसमाज का निर्माण स्व-स्वनिर्धारित प्रयोग-क्षेत्र में हो सकेगा। अगर वे जनसेवक-जनसेविकाकोटि के हैं तो उन्हें ऐसे व्यापक सर्वांगी दृष्टिसम्पन्न क्रान्तिप्रिय साधु-साध्वी-संन्यासी या संतकोटि के व्यक्ति को ढूंढ कर पूर्वोक्त प्रयोगपद्धति के प्रयोग में जुट पड़ना चाहिए। आमजनता, (जो अपने कृषि, पशुपालन, व्यापार, श्रम, मजदूरी, नौकरी, कारखानेदारी आदि किसी भी जीविका के क्षेत्र में है) जिसके पास जनसेवक के जितनी मात्रा में त्याग, सेवा और समय नहीं है, उसे अपने ग्राम या नगर के जनसंगठन में आबद्ध हो जाना

❀ प्रयोग की सर्वधर्मप्रार्थना ❀

है ब्रह्मचर्य व सत्यश्रद्धा सर्व-धर्म-उपासना।
मालिकीहक-व्यवसाय-मर्यादा, अनिन्दाश्लाघना ॥
विभूषा-व्यसनजय, खानपानशयन-विवेक क्षमापना।
औ रात्रिभोजनत्याग, जगवात्सल्य यह व्रतसाधना ॥

प्राणिमात्र पर वत्सलता रख, माना निज सम था सबको।
पूर्ण अहिंसापालनकर्ता, नमन तपस्वी महावीर को ॥१॥
जन-सेवा के पाठ सिखाए, मध्यममार्ग बता जग को।
किया नउज्वल संन्यासधर्म को, वन्दन बुद्ध! सदा तुमको ॥२॥
पूर्ण एकपत्नीव्रत पाला, प्रणबद्ध रहे थे जीवन में।
न्यायनीतिमय राम रहें बस, सदा हमारे अन्तर में ॥३॥
सभी कार्य करते थे जग में, रह निर्लेप निरन्तर वे।
ऐसे योगी कृष्णप्रभु में, बुद्धिहृदय-द्वय रहें सने ॥४॥
प्रेमरूप प्रभुपुत्र ईशु जो, क्षमासिन्धु को वन्दन हो।
रहमनेकी के परम प्रचारक हजरत मोहम्मद दिल में हों ॥५॥
जरथुस्त महात्मा की पवित्रता हमें जागृतिदायक हो।
सर्वधर्मसंस्थापक – स्मृतियाँ विश्वशान्ति – सहायक हो ॥६॥

अहिंसा की मूर्ति प्रशमरससिन्धु–अधिपति।
सुधा की धाराएँ रग–रग वहे प्रेम–झरना।
तपस्वी–तेजस्वी परम पद पा के जगत को।
किया प्रेरित वंदू परप्रभु महावीर तुमको ॥१॥
चतुर्यामी–मार्गे प्रगति कर निर्वाण–पथ को।
बताया वंदू मैं जगप्रिय स्वयंबुद्ध तुमको।
करी धर्मक्रान्ति सकल जग को जागृत किया।
बने विश्वप्रेमी नमन करूं ऐसे पुरुष को ॥२॥

चाहिए, ताकि वर्तमान में बढ़े हुए अधर्म, अनैतिकता आदि के खिलाफ संगठितरूप से लड़ा जा सके। और राज्यसंस्था (राष्ट्रीय महासभा) के सदस्यों को भी अपनी शुद्धिपुष्टि के लिए नीतिधर्म की मर्यादा में चलना चाहिए और जनता एवं जनसेवकों की संस्थाओं को क्रमशः पूरक-प्रेरक-बल के रूप में स्वीकृत कर लेनी चाहिए। तभी भगवद्गीता की भाषा में 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (अपने-अपने कर्तव्यकर्म में रत मनुष्य सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है) का सूत्र-चरितार्थ हो सकेगा।

समाप्त

जैन प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्मपुरी, मेरठ।

ॐ प्रयोग की सर्वधर्मप्रार्थना ॐ

है ब्रह्मचर्य व सत्यश्रद्धा सर्व-धर्म-उपासना।
मालिकीहक-व्यवसाय-मर्यादा, अनिन्दाश्लाघना॥
विभूषा-व्यसनजय, खानपानशयन-विवेक क्षमापना।
औ रात्रिभोजनत्याग, जगवात्सल्य यह व्रतसाधना॥

प्राणिमात्र पर वत्सलता रख, माना निज सम था सबको।
पूर्ण अहिंसापालनकर्ता, नमन तपस्वी महावीर को॥१॥
जन-सेवा के पाठ सिखाए, मध्यममार्ग बता जग को।
किया उज्ज्वल संन्यासधर्म को, वन्दन बुद्ध! सदा तुमको॥२॥
पूर्ण एकपत्नीव्रत पाला, प्रणबद्ध रहे थे जीवन में।
न्यायनीतिमय राम रहें बस, सदा हमारे अन्तर में॥३॥
सभी कार्य करते थे जग में, रह निर्लेप निरन्तर वे।
ऐसे योगी कृष्णप्रभु में, बुद्धिहृदय-द्वय रहें सने॥४॥
प्रेमरूप प्रभुपुत्र ईशु जो, क्षमासिन्धु को वन्दन हो।
रहमनेकी के परम प्रचारक हजरत मोहम्मद दिल में हों॥५॥
जरथुस्त महात्मा की पवित्रता हमें जागृतिदायक हो।
सर्वधर्मसंस्थापक – स्मृतियाँ विश्वशान्ति – सहायक हो॥६॥

अहिंसा की मूर्ति प्रशमरससिन्धु–अधिपति।
सुधा की धाराएँ रग–रग बहे प्रेम–झरना।
तपस्वी–तेजस्वी परम पद पा के जगत को।
किया प्रेरित वंदूं परप्रभु महावीर तुमको॥१॥
चतुर्यामी–मार्गे प्रगति कर निर्वाण–पथ को।
बताया वंदूं मैं जगप्रिय स्वयंबुद्ध तुमको।
करी धर्मक्रान्ति सकल जग को जागृत किया।
बने विश्वप्रेमी नमन करूं ऐसे पुरुष को॥२॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
दुलारे नेवी के [illegible]।
अशोदैवी नेवी पुनीत [illegible]-परिहृति।
निद्रा[illegible] अन्तर में विमलराजर्षि रहा ही ॥४॥

धर्म हमारा एक मात्र यह, सर्वधर्म-सेवा करना।
ध्येय हमारा है वत्सलता, इसे विश्व में है भरना ॥१॥
सकलजगत की बन कर माता, वत्सलता सब में भर दूं।
इसी भावना के अनुयायी बनने का गुंजन कर दूं ॥२॥
जाति-वर्ग-रंग-राष्ट्र-भेद के लेश न हम आराधक हों।
देश-वेष के शिष्टाचारित विकास में ना बाधक हों ॥३॥
निर्भय बन हम जानमाल की परवाह कभी ना किया करें।
अपने मूढ़स्वार्थ को तज कर ट्रस्टीशिप हासिल कर लें ॥४॥
ब्रह्मचर्य की ज्योति जगा कर, निष्ठा सत्य-आराधन में।
जनसेवा में आंच न आवे, व्यवसाय हों इस जीवन में ॥५॥
सद्गुणस्तुति करें सभी की, निन्दा से हम रहें परे।
व्यसन तजें व सजें सद्गुण से विलास-फैशन दूर करें ॥६॥
खाना, पीना, चलना, फिरना, सोना, जगना और कहना।
सर्व क्रियाओं से पहले सब पाप-विकारों से डरना ॥७॥
फिर भी हो कोई भूल किसी में, क्षमा मांग हों हलके फूल।
रहें जीवन के सर्वक्षेत्र में (पर) आत्मभान नहीं जाएँ भूल ॥८॥

सर्वथा हों सुखी सर्व, समता सर्व आचरें।
सर्वत्र दिव्यता व्यापे! सर्वत्र शान्ति विस्तरे।
ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!